ज्ञान-सतसई

'ज्ञान-सतसई' पर कुछ सम्मतियाँ

श्री राजेन्द्र शर्मा द्वारा लिखित 'ज्ञान सतसई' मैंने रुचिपूर्वक पढ़ी। यह पुस्तक सतसइयों की परम्परा में एक स्वागत-योग्य वृद्धि है। इसमें गूढ़ अध्यात्म विषय का उपनिषदों और श्रीमद्भगवद्गीता के आधार पर एक मार्मिक और व्यवस्थापूर्ण ढंग से विवेचन हुआ है। इसमें वेदान्त की सारी प्रक्रिया आ गई है। भारतीय ज्ञान-धारा के अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक संग्रहणीय है।

—बाबू गुलाबराय

श्री राजेन्द्र शर्मा की 'ज्ञान सतसई' वेदान्त के प्रेमियों के लिए सन्तोषप्रद होनी चाहिये। ब्रजभाषा में उसकी रचना हुई है। विषय अवश्य गहन है, परन्तु भाषा समझने में सरल है।

—राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

उषाकाल में 'ज्ञान सतसई' का स्वाध्याय किया। चीज मुझे पसन्द आई। आपका परिश्रम प्रशंसनीय है और आप अभिनन्दनीय हैं।

—श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

श्री राजेन्द्र शर्मा हिन्दी में आध्यात्मिक प्रवृत्ति को लेकर चलने वाले कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। उनकी 'ज्ञान सतसई' में उनकी उसी प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। काव्य में दर्शन का सार-तत्व निकालकर हिन्दी पाठकों के समक्ष रखने में उन्हें पूर्ण सफलता मिली है।

—डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

नई पीढ़ी के विद्वानों में श्री राजेन्द्र शर्मा प्रमुख हैं। प्रस्तुत पुस्तक उनकी आध्यात्म-विषयक उच्च कोटि की नवीनतम रचना है। 'ज्ञान सतसई' मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक के प्रथम दस मन्त्रों पर आधारित आध्यात्म-प्रधान काव्य-ग्रन्थ है। जीवन में सदा पथ-प्रदर्शन करने वाले अमूल्य ज्ञान से सम्पूर्ण ग्रन्थ परिपूर्ण है। आध्यात्मिक वृत्ति वाले काव्य-प्रेमियों के लिए तो यह काव्य-ग्रन्थ विशेष उद्बोधक है।

—डा० रामचरण महेन्द्र

श्री राजेन्द्र शर्मा की 'ज्ञान-सतसई' भारतीय अध्यात्म विद्या के प्रारम्भिक ग्रंथ के रूप में निःसन्देह हिन्दी भाषा में अनुपम है। भाषा की प्राञ्जलता और भावों की गम्भीरता एवं विद्वतापूर्ण टिप्पणियाँ इस ग्रंथ की शोभा अनेक गुण बढ़ा रही हैं। हमारा विश्वास है, यह ग्रंथ हिन्दी भाषा को देन सिद्ध होगा।

—महामंडलेश्वर श्री महेशानन्दगिरिजी

ज्ञान-सतसई

लेखक

राजेन्द्र शर्मा
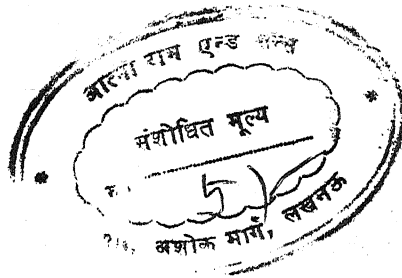
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य	:	~~तीन~~	~~रुपया~~
प्रथम संस्करण	:	अक्तूबर,	१९५८
मुद्रक	:	नवीन प्रेस,	दिल्ली

प्रस्तावना

साहित्य की विविध विधाओं में 'सतसई' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि हिन्दी-साहित्य में 'बिहारी-सतसई' को देखकर ही सतसइयाँ रचने की प्रेरणा कवियों को प्राप्त हुई, किन्तु सतसई-साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन है। केवल शुद्ध साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं, धार्मिक-साहित्य के क्षेत्र में भी सतसई को बहुत महत्त्व दिया गया है।

'सतसई' या 'सतसैया' शब्द सप्तशती के परिवर्तित रूप हैं। प्रायः सतसई में सात सौ छन्द होते हैं, 'प्रायः' इसलिए कि अधिकांश सतसईकार सात सौ से अधिक छन्दों को ही सतसई में संकलित करते हैं। 'बिहारी-सतसई' में ७१३ अथवा ७१९ दोहे हैं। यह आवश्यक नहीं कि जिस पुस्तक में सात सौ छन्दों का संकलन किया जाय उसे सतसई नाम दिया ही जाय। 'भ्रमर-गीत' परम्परा के अन्तर्गत रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' की गणना की जाती है; किन्तु उसमें 'भ्रमर' का उल्लेख तक नहीं है, जब कि सूरदास और नन्ददास के भ्रमर-गीतों में भ्रमर का उल्लेख मिलता है।

हमारे देश में सात की संख्या को विशेष महत्त्व दिया गया है। 'महाभारत' में यद्यपि एक लाख श्लोक हैं और उसे ज्ञान-विज्ञान का महान् कोश माना जाता है, परन्तु सम्पूर्ण 'महाभारत' में 'भीष्म पर्व' के अन्तर्गत २५वें अध्याय से ४२वें अध्याय तक आने वाले सात सौ श्लोक ही सम्पूर्ण 'महाभारत' का सार हैं। इन्हें 'महाभारत' से लेकर 'श्रीमद्भगवद्गीता' के रूप में पुस्तकाकार कर दिया गया है। गीता के श्लोकों की संख्या के सम्बन्ध में महाभारत में निम्नलिखित श्लोक लिखा है—

> **"षट्शतानि सविंशानिश्लोकानां प्राह केशवः।**
> **अर्जुनः सप्तपंचाशत् सप्तषष्टि तु संजयः॥**
> **धृतराष्ट्रः श्लोकमेकं गीतायां मानमुच्यते॥"**

इस श्लोक के अनुसार 'गीता' के श्लोकों की संख्या ७४५ होती है। इसी प्रकार 'मार्कण्डेय' पुराण के अन्तर्गत 'दुर्गासप्तशती' का हिन्दू-समाज में महान् आदर है। दुर्गासप्तशती के प्रत्येक अध्याय के अन्त में श्लोकों की संख्या का निर्देश है। अन्तिम अध्याय में संख्या का निर्देश इस प्रकार है—"सस्ताम उवाच मन्त्राः ५७, अर्द्धश्लोकाः ४२, श्लोकाः ५३५, अवदानानि ६६।"

यह तो हुई धार्मिक क्षेत्र में 'सतसई' के आरम्भ होने की बात। साहित्य के क्षेत्र में सतसईकारों का आदर्श रही है गाथा सप्तशती। यही सतसई है जिससे प्रेरित होकर अधिकांश सतसइयाँ लिखी गईं। गाथा सप्तशती का संकलन महाराज सातवाहन हाल के आश्रित कवि श्रीपालित द्वारा महाराज की प्रसन्नता हेतु ईसा की प्रथम शताब्दी में किया गया था। इसमें अनेक गाथाएँ स्वयं सातवाहन रचित भी हैं। गाथा सप्तशती में प्रणय के सुन्दर और स्वाभाविक दृश्यों का अत्यन्त मनोहर चित्रण किया गया है। प्रकृति के अकृत्रिम सौन्दर्य और अनुभव से पूर्ण सरस सूक्तियाँ भी बहुत अधिक मात्रा में संकलित हैं।

बारहवीं शताब्दी ईस्वी में श्री गोवर्धनाचार्य ने गाथा सप्तशती के आदर्श पर ही 'आर्या-सप्तशती' की रचना की, वे स्वयं स्वीकार करते हैं, कि प्राकृत की सरस उक्तियों को संस्कृत में रूपान्तरित करना वैसा ही है जैसे पृथ्वीतल पर कल्लोल करने वाली यमुना को आकाश की ओर ले जाना—

वाणी प्राकृत समुचित रसा बलेनैव संस्कृतनीता।
निम्नानुरूपतीरा कलिन्द कन्येव गगनतलम्।।

'आर्या सप्तशती' में घोर शृंगार है। जयदेव ने तो इसकी प्रशंसा में यहाँ तक कहा है कि शृंगारी काव्य-रचना में गोवर्धन के समान कोई भी नहीं है। शृंगार की जो स्वाभाविक अभिव्यक्ति 'गाथा सप्तशती' में मिलती है वह 'आर्या सप्तशती' में नहीं, 'आर्या सप्तशती' में मर्यादा का उल्लंघन बहुत अधिक है।

हिन्दी-साहित्य में सतसई-परम्परा का आरम्भ होने से पूर्व प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' और संस्कृत की 'आर्या सप्तशती' यही दो सतसइयाँ मिलती हैं। भक्ति-काल में गोस्वामी तुलसीदास एवं रहीम की लिखी सतसइयाँ प्रसिद्ध हैं; किन्तु वे पूर्णतः प्रामाणिक नहीं हैं। रहीम की 'सतसई' तो सात सौ दोहों में उपलब्ध भी नहीं है।

भक्तिकाल या रीतिकाल में जो भी सतसइयाँ लिखी गईं, उनमें या तो नीति की प्रधानता है या शृंगार की। यदि तुलसी और रहीम की सतसइयों को सतसई मानें तो वे नीति की सतसइयों की श्रेणी में गिनी जायेंगी। वृन्द की 'दृष्टान्त सतसई' नीति की सबसे प्रसिद्ध सतसई है। कहा जाता है, कि वृन्द ने शृंगार रस की 'यमक सतसई' भी लिखी थी, जो उपलब्ध नहीं है।

रीतिकाल में जो सतसइयाँ लिखी गईं वे शृंगारिक हैं। उनमें बहुत से दोहे भक्ति या नीति सम्बन्धी भी हैं, किन्तु उनका प्रधान विषय नायक-नायिका पर आधारित शृंगार ही है। इस काल की समस्त सतसइयों में मूर्द्धन्य है बिहारी

की सतसई। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सतसई कहने से सभी 'बिहारी-सतसई' समझते हैं। 'बिहारी-सतसई' के आदर्श पर ही मतिराम-सतसई, रामसहाय की राम-सतसई, विक्रम-सतसई, भूपति-सतसई और चन्दन-सतसई की रचना हुई। ये सभी सतसइयाँ शृंगार प्रधान हैं। इसी काल में गुजराती 'कवि दयाराम ने हिन्दी में दयाराम-सतसई की रचना की। इसमें शृंगार और भक्ति दोनों प्रकार के दोहे हैं।

'बिहारी-सतसई' का साहित्य-रसिकों में आज तक आदर है। इसी से आधुनिक काल में कुछ तो बिहारी के अनुकरण पर और अधिकांश 'बिहारी-सतसई' की प्रतिक्रिया के रूप में सतसइयों की रचना हुई है। इस काल में जो सतसइयाँ लिखी गई हैं उनमें भक्ति, समाज-सुधार या देश-भक्ति की भावना का प्राचुर्य है।

श्री वियोगी हरि और सूर्यमल्ल की वीर-सतसइयाँ, श्री रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई', श्री जगनसिंह सेंगर की 'किसान-सतसई' इस युग की भावनाओं का अच्छा प्रतिनिधित्व करती हैं। इस काल में और भी बहुत-सी सतसइयाँ लिखी गई हैं; किन्तु वे प्रायः साधारण स्तर की हैं।

सतसई-साहित्य का अपना महत्त्व है। प्रकीर्ण मुक्तक काव्य होने के कारण यह हृदय पर सीधा प्रभाव डालता है। प्रायः सतसइयों में संकलित दोहे पढ़ते-सुनते सरलता से याद हो जाते हैं और अनुभव से पूर्ण होने के कारण हृदय को तृप्त करने के साथ-साथ पथ-प्रदर्शन भी करते हैं।

समस्त सतसइयों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि कुछ सतसइयाँ ऐसी हैं जिनका जनता-जनार्दन की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है, किन्तु रसिकों का वे कण्ठहार हैं। कुछ सतसइयाँ ऐसी हैं जिनसे जनता को उपदेश प्राप्त हो सकता है किन्तु जिन्हें सहृदयों से समादर प्राप्त नहीं हो सकता। गाथा-सप्तशती, आर्या-सप्तशती, बिहारी-सतसई, मतिराम-सतसई प्रथम प्रकार की सतसइयों में गिनाई जा सकती हैं। इनमें ध्वनि, रस, वाग्वैदग्ध्य आदि विशेषताओं के साथ भाषा की समास-शक्ति और सुन्दर शब्द चयन भी मिलता है। अपने कथन की पुष्टि के लिए हम गाथा-सप्तशती एवं बिहारी-सतसई से एक-एक छन्द उद्धृत करते हैं—

सुन्दर यदि कौतुकितोसि सकल तिथिचन्द्र दर्शन सुखानाम्।
तन्मोच्यमानकञ्चुकमीक्षस्व मुखं मसृणमस्या॥

(गाथा सप्तशती)

कोई दूती नायक से नायिका के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहती

है—'हे सुन्दर, यदि तुम्हें सम्पूर्ण (सोलह) कलाओं वाले चन्द्र-दर्शन से प्राप्त होने वाले सुखों की अभिलाषा है तो उस सुन्दरी के मुख को कंचुक (कुरती) उतारते समय देखो।' कैसा मौलिक भाव है। जिस समय नायिका कुरती उतारेगी उस समय दोनों हाथों से कुरती को ऊपर करेगी जिससे उसका सम्पूर्ण मुख ढक जायगा। धीरे-धीरे कुरती उतरते समय चिबुक आदि भाग क्रमशः दृष्टिगोचर होंगे, अन्त में पूर्ण चन्द्र के दर्शन होंगे।

बिहारी में प्रेम की व्यंजना अत्यन्त मधुर है। राधा कृष्ण के प्रति इतनी अनुरक्ता हैं कि कभी उनके प्रति मान ही नहीं करतीं। मान करें भी तो कैसे! कृष्ण में उन्हें कोई दोष दिखाई ही नहीं देता। पर, राधा की सखी शिक्षा देती है कि मान करना ही चाहिए। भोली राधा पूछती हैं—मान कैसे किया जाता है? सखी समझाता है—नेत्र रक्त कर लेना, भौंहें टेढ़ी और चंचल बना लेना आदि। इस पर राधा कहती हैं—हे सखि, धीरे-धीरे कह, कहीं ऐसा न हो कि मुझे जिससे मान करना है, वह सुन ले। देखती नहीं वह अत्यन्त निकट—मेरे हृदय मन्दिर में बैठा है—

सखी सिखवति मान विधि, सैननि बरजति बाल।
हुरुए कहु मो हिय बसत, सदा बिहारी लाल॥

इस प्रकार ये सतसइयाँ सरस हैं—पर हैं पठित-सहृदय-समाज के लिए ही। अब हम दूसरे प्रकार के दोहे उद्धृत करते हैं। ये जनता का पथ-प्रदर्शन करते रहे हैं। जनसाधारण इन्हें पढ़कर या सुनकर लाभान्वित होता रहा है, पर सहृदयों को थाह लेने के लिए कुछ दिखाई नहीं देता।

होत न कारज मो बिन, यह जु कहै सु अयान।
जहाँ न कुक्कुट शब्द तहँ, होत न कहा बिहान॥

(वृन्द)

दुरजन दरपन सम सदा, करि देखो हिय दौर॥
सनमुख की गति और है, बिमुख भए कछु और॥

(तुलसी)

इन दोहों के लिए किसी प्रकार की टिप्पणी की अपेक्षा नहीं है। जो विचार इनमें रखे गए हैं, वे स्पष्ट ही हैं।

इस प्रकार दो सहस्र वर्ष के दीर्घकाल में अनेक सतसइयों की रचना होती रही है और हो रही है। हमें अब तक ४० सतसइयाँ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सतसइयों के इस सुन्दर हार में हिन्दी के यशस्वी कवि और लेखक बन्धुवर श्री राजेन्द्र शर्मा ने एक और सुगन्धित पुष्प पिरोकर अत्यन्त

स्तुत्य कार्य किया है ।

'ज्ञान-सतसई' शर्मा जी की गूढ़ और गम्भीर रचना है । उन्होंने आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है—

'बेद रहस अति गूढ़, बिनु हरिकृपा न समुझि परि ।
ज्ञान सून्य अति मूढ़, कहउँ जथा गुरु तें सुन्यो ॥'

ज्ञान का मार्ग अत्यन्त दुस्तर है । साधारणतः मानव-मन भ्रम में ही बास करता है । जिसे सार रूप समझकर भजना चाहिए, उससे भागता है और जिससे दूर भागना चाहिए, उसका निरन्तर भजन करता है—

'भजन कह्यो तातें भज्यो, भज्यो न एको बार ।
दूरि भजन जातें कह्यो, सो तें भज्यो गँवार ॥

(बिहारी)

बिना ज्ञान के मानव-मन की यह स्थिति सुधर नहीं सकती । यह ज्ञान का गूढ़ रहस्य वेद, दर्शन, उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में भरा पड़ा है । वह सर्व-जन-सुलभ नहीं है । स्वयं अर्जुन जैसे उस रहस्य को न समझ सके, तब स्वयं श्यामसुन्दर को उपनिषद् रूप गौओं का दोहन करके गीता-नवनीत का निर्माण करना पड़ा । यही नवनीत है जिसका सेवन करते ही अर्जुन के आन्तरिक नेत्र खुल गए—दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई । भगवान् कृष्ण ने ज्ञान की ज्योति दी—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले बिना शरीर वाले और मरने के बाद भी बिना शरीर वाले ही हैं । केवल बीच में ही शरीर वाले प्रतीत होते हैं, फिर उस विषय में क्या चिन्ता है ?

'गीता' के इस श्लोक को 'ज्ञान-सतसई' में इस सरल रूप में व्यक्त किया गया है—

आदौ माँहि नहि लखि परै, रहै न अन्त स्वरूप ।
मध माँहि भासै देह यहि, जाने मिथ्या रूप ॥

इसी प्रकार 'मुण्डक' के निम्नलिखित मन्त्र के भाव को भी दोहों में व्यक्त किया गया है—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।

(मुण्डक)

जानै भोग असारता, गुरू सौं ले उपदेस ।
जानि ब्रह्म सब जानिहू, छूटहिं सकल कलेस ।। 'ज्ञान-सतसई'

इन उद्धरणों को देने का हमारा अभिप्राय यह दिखलाना मात्र है कि शर्माजी ने 'ज्ञान सतसई' में वैदिक ग्रन्थों, विशेषतः 'मुण्डकोपनिषद' के ज्ञान सम्बन्धी गूढ़ रहस्यों का मन्थन करके उसे सरल एवं सरस रूप में प्रस्तुत करने का सफल प्रयत्न किया है । जो कुछ उन्होंने लिखा है वह गम्भीर अध्ययन और मनन के पश्चात् ही लिखा है । सम्पूर्ण ग्रन्थ में दी हुई पाद-टिप्पणियों ने 'सतसई' को और भी उपादेय बना दिया है ।

दोहों की रचना में समास, उपमा, भावों की स्पष्टता, भाषा की प्राञ्जलता और उपनिषद की गूढ़ प्रक्रिया को भी सर्वसाधारण को दृष्टि में रखते हुए सरल अभिव्यक्ति देना, कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे इस ग्रन्थ का साहित्यिक महत्त्व बढ़ गया है । सम्पूर्ण वेदान्त-विषय को सतसई के रूप में प्रस्तुत करने का भी यह प्रथम प्रयास है ।

सतसई-साहित्य का सम्बन्ध प्रायः रागात्मिका वृत्ति से रहा है । अधिकांश प्रसिद्ध सतसइयों में नायक-नायिका भेद, नख-शिख वर्णन आदि की ही प्रधानता है । प्रस्तुत सतसई का आदर्श गाथा-सप्तशती या बिहारी-सतसई नहीं है, इसका आदर्श तो गीता और तुलसी-सतसई हैं । यह सतसई पाठक की रागात्मिका-वृत्ति पर नहीं, बोध-वृत्ति पर चोट करती है—उसमें एक हलचल पैदा करती है । आज के युग में, जब नास्तिकता बढ़ती जा रही है, 'हिरण्यमय पात्र' की चमक की चकाचौंध में मानव 'सत्य' की ओर देख ही नहीं पाता, 'ज्ञान-सतसई' से विकीर्ण हुई ज्ञान की किरणें मार्ग-दर्शन का कार्य करेंगी ।

हम शर्मा जी को ऐसी प्रौढ़ रचना प्रस्तुत करने के लिए हार्दिक बधाई देते हैं । हमें विश्वास है कि जनता में इस कृति का समादर होगा ।

—प्रो० भारतभूषण 'सरोज'

दो शब्द

भारतवासी आजकल धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र में रहते हैं। 'धर्म' लुप्त होता जा रहा है। पर, साथ ही आस्तिक बुद्धिवाला विचारवान् भारतीय यह भी समझता है कि विधर्मियों के अनेक प्रचण्ड प्रहारों से आहत होने पर भी भारतवर्ष की पुण्य भूमि में 'धर्म' का लोप नहीं हुआ, भविष्य में भी नहीं होगा। धर्म-निरपेक्षता की दुहाई देने वाले विदेशों में भारतीय संस्कृति की अक्षुण्णता एवं प्राचीनता का युक्तियुक्त प्रचार करते हुए अपने अन्तर के विरोधाभास से सम्भवतः परिचित नहीं होते। क्या बिना 'धर्म' के 'संस्कृति' का अस्तित्व संभव है ? अनादि है हमारा सनातन धर्म और अनादि है हमारी संस्कृति। भोग-संग्रह कर उसका अन्यों के लिए त्याग करना ही भारतीय जीवन का दर्शन है। पाश्चात्य देशों की भाँति हमने भोग-संग्रह कर स्वयं ही उन्हें भोगने का पाठ नहीं पढ़ा। भारतीय जीवन का आरम्भ 'त्याग' से होता है और भोग के मार्ग से गुज़रते हुए उसकी परिणति 'त्याग' में ही होती है। ब्रह्मचर्य से गृहस्थ और पुनः गृहस्थ से वानप्रस्थ और संन्यास—यह हमारी आश्रम व्यवस्था रही है। यद्यपि जीवन के परम लक्ष्य, मोक्ष की प्राप्ति, आत्म-स्वरूप के ज्ञान के लिए ही त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियों ने यह सामाजिक व्यवस्था स्थापित की, तथापि कालान्तर में मतमतान्तर और कलि के प्रभाव से यह व्यवस्था हमने छिन्न-भिन्न होते हुए देखी और देख रहे हैं। (आज की घोर विषमतापूर्ण सामाजिक स्थिति का भी यही कारण है।) श्रेयस् को भूल कर भोगवाद की ओर हमारी प्रवृत्ति दिनानुदिन बढ़ रही है। फिर भी हमारी संत-परम्परा की एक ऐसी मशाल प्रज्वलित है, जो निरंतर हमें सावधान करती रही है। सच्चे साधकों के हृदय में समानेवाले "पावक रूपी साइयाँ" को इस मशाल के स्फुलिंग छू जाते हैं, और वह साधना के पथ पर बढ़ जाता है। इसी संत-परम्परा ने हमारे देश की पावन मिट्टी में ज्ञान और भक्ति की सतत् प्रवहमान् गंगा-यमुना को कभी सूखने नहीं दिया है। उन्होंने बताया—

धर्म तें बिरति जोग तें ज्ञाना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।

धर्म से वैराग्य की प्राप्ति, योग से ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान से मोक्ष।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति

पर, साथ ही भक्ति-पक्ष का समर्थन करने वालों ने यह भी चेताया है कि

ग्यान पंथ कृपान कै धारा।

ग्रौर—

जासु बेगि द्रवंउ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।

तात्पर्य यह है, कि साधक के समक्ष भक्ति ग्रौर ज्ञान के दो मार्ग हैं, वह कौन सा चुने। सीधा उत्तर है, जिसको जो सुगम पड़े। लक्ष्य दोनों का वही है—साधन धाम मोक्ष कर द्वारा—यह शरीर पाकर ग्रपने जीवन का परम लक्ष्य पा लेना।

"ज्ञान-सतसई" में सात सौ से कुछ ग्रधिक दोहों की रचना हुई है। इनमें दोनों ही मार्गों पर चलने के लिए समान रूप से ग्रावश्यक ग्रन्त:करण की शुद्धि के विभिन्न उपायों का उल्लेख हुग्रा है। 'मुण्डकोपनिषद' पर ग्राधारित इस ग्रंथ में वेदान्त की प्रक्रिया भी समझाने की यथाशक्ति चेष्टा की गई है। पर, वेदान्त के ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्) का समझना ग्रौर उसको श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा ग्रात्मसात् कर लेना जन्मजन्मान्तरों के पुण्यों का ही फल है। मैं तो यह स्वीकार करता हूँ—

बेद-रहस ग्रति गूढ़ बिनु हरि कृपा न समुझि पर।
ज्ञान सून्य ग्रति मूढ़ कहऊँ जथा गुर तें सुन्यौं।

गुरु की कृपा से ही ऐसे गहन दुर्गम पंथ में गति, प्रगति होती है। गुरु की महिमा पर हमारे वाङ्मय में बहुत कुछ लिखा गया है। ग्रत: उसका महत्त्व स्पष्ट ही है। मैं चिरऋणी हूँ, पूज्यपाद श्री विष्णुदेवानन्दजी गिरि, श्री नृसिंह गिरि जी ग्रौर श्री चैतन्यगिरि जी महाराज का, जिनकी ग्रनमोल वाणी से हृदय के कपाट खुले ग्रौर मैं उस स्थिति की भी कल्पना करने लगा जिसमें—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

पर, इस स्थिति की तो ग्रभी कल्पना ही है। ईश्वर कृपा से ही कोई ईश्वर को जानता है। साधक श्रद्धा के साथ प्रयत्नशील रहे, उसी में ग्रन्ततोगत्वा कल्याण है।

यहाँ, एक प्रश्न पर ग्रौर विचार करना है। वह है प्रवृत्ति ग्रौर निवृत्ति का। क्या ग्रपने सभी शास्त्रोचित कर्मों का त्याग कर मनुष्य को मोक्ष साधन में लग जाना चाहिए? नहीं। शास्त्र यह नहीं कहता। जीवन-संघर्ष में जुटे रहकर भी उसकी प्राप्ति होती है ग्रथवा जीवन-क्षेत्र से पलायन करने की ग्रावश्यकता नहीं है। स्पष्ट कहा है, श्रीकृष्ण ने—

मामनुस्मर युद्ध च!

ग्रौर—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।

अतः सिद्धि प्राप्त करने का मार्ग सरल यही है, कि लोकों की परीक्षा क ते हुए, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, विवेक-अविवेक, आदि का ज्ञान प्राप्त करते हुए, संसार में, देह में आसक्ति हटाकर, असंग होकर ही संसार में जि ; । भरत की तरह—चंचरीक जिमि चंपक बागा । बात लिखने में सरल है, बहुत सरल है; पर अनुभव में, व्यवहार में कठिन है । पहले ही इसलिए इस ार्ग को 'क्षुरस्य धारा' कह दिया । पर, हमारा शास्त्र ही हमें दुर्गम पथ पार करने का साहस, बल, शक्ति भी देता है । आवश्यकता है, केवल अपने ज्ञान-चक्षु खुले रहने की । मैं समझता हूँ, इस प्रकार क्रम से 'ज्ञान-सतसई' में इन साधनों का विवेचन सरल, स्पष्ट दोहावली में हुआ है और इससे साधारण बुद्धिवाले साधक को भी लाभ होगा । मुझे पूर्ण विश्वास है कि—

जिमि बालक कह तोतरि बाता ।
सुनहिं मुदित मन पितु और माता ।।

न्याय से ही विद्वज्जन इस कृति को ग्रहण करेंगे ।

१५९४, मदरसा रोड, दिल्ली

—राजेन्द्र शर्मा

सूची

ॐ

श्री गणेशाय नमः

मंगलाचरण

पारबती के सुअन गननि के जे अधिनायक।
रच्छा मा की करैं व्यर्थ ह्वै सिवगन-सायक।।
बिद्या के भण्डार ब्यास को जिन चकरायो।
जे भक्तनि के बिघ्न सदा अति दूर भगायो।।
वा गजबदन गनेस कौं मेरो नम्र प्रनाम है।
बाधा हरै प्रसन्न ह्वै रचना स्वतः ललाम है।।१।।

एक नेत्र अधखुला समाधी मँह गौरीपति।
दूजा राजस, पार्बती अर्धांगनि मँह रति।।
महा प्रचंड अगनि ज्वाला तीजा धधकावै।
पुष्पबान सौं सजे काम को मारि जरावै।।
तीनि गुननि बस राखि सिव, अज भोलो भगवान है।
भक्त समुझि आसीष दे, तौ मेरो कल्यान है।।२।।

समाचार अभिषेक सुनै पै होय मुदित जनि।
पुनि बन कौ आदेस नहीं बिचलित कीयो तिन।।
जे अपराधिहु सरन परैं पै अंक लगावै।
जासु नाम लै अधम जीवहू भव तर जावै।।
सुमिरि राम कौ नाम अब रचना अति सुन्दर करूँ।
निराकार साकार की चरन रेनु सिर पै धरूँ।।३।।

सोरठा—बेद रहस अति गूढ़ बिनु हरि कृपा न समुझि परि।
ज्ञान सून्य अति मूढ़, कहउँ जथा गुरु तैं सुन्यो।।१।।

शान्ति-पाठ

बचन सुनैं सुभ देब, सुभ दरसन नैननि करहिं ।
करहिं आयु कौ सेब, देब हितहि करि इस्तुती ॥२॥

इन्द्र करहि कल्यान, परम धनी यशवान अरु ।
पूषा ह्वै हितवान, गुरु-देवनि कैं सुभ करें ॥३॥

रच्छै चक्र समान, गरुड़ अरिष्टनि नासि कैं ।
होइ परम कल्यान, त्रिबिध ताप अब सांत ह्वै ॥४॥

विषय-प्रवेश

दोहा—सबं प्रथम बिधि जन्म लै, रच दीन्हो संसार ।
जेठे सुत कौ पुनि कह्यो, ब्रह्म ज्ञान कौ सार ॥१॥

कह्यो अथर्वा याहि कूं, अंगिर मुनि कें हेतु ।
भरद्वाज सुत सत्यवह पुनि अंगिरा सचेतु ॥२॥

सौनक पूछहि अंगिरा मोकूं देहु बताय ।
जेहि जाने पै आपहु सबहि ज्ञात ह्वै जाय ॥३॥

एक परा कौ जानियें, बिद्या अपरा दोय ।
अपरा ज्ञान अनात्म कौ, परा ब्रह्म कौ होय ॥४॥[1]

१. 'मुण्डक' में परा-अपरा का विवेचन इस प्रकार किया गया है—
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदाऽथर्ववेदः
शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं
छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया
तदक्षरमधिगम्यते ॥ (मुण्डकोपनिषद १।१।५)

परा और अपरा विद्याओं में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह अपरा है, तथा जिससे उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा है ।

श्री शंकराचार्य भगवान् ने इस सम्बन्ध में बताया है कि उपनिषद्वेद्य अक्षर विषयक विज्ञान ही परा विद्या है, उपनिषद की शब्द राशि नहीं । और

जानै भोग असारता गुरु सौं लै उपदेस।[१]
जानि ब्रह्म सबु जानिहू, छूटहिं सकल कलेस ॥५॥

साधक

उत्तम, मध्यम अरु अधम, साधक तीनि प्रकार।
धरै न पग, मग मध रुकै, उत्तम लागै पार ॥१॥
साधक सोई जानिये, जाको मन बलवान ॥
बाधक, बाधा सहस हों, तदपि न छाँड़ै ध्यान ॥२॥
बिघन बेग अति उग्र है, उत्तम थल उस पार।
भय बस नदिया ना तरै, डूबा जग मझधार ॥३॥
करना चाहै त्याग तौ पहिले लै मन साध।
मन इत-उत भटका फिरै, तौ कस भगति अबाध ॥४॥
मन बानी अरु करम महँ जाके किछू न भेद।
जानै सोई महात्मा, चित्त न जाके खेद ॥५॥
मन महँ कछु, कछु वचन महँ, करम करै कछु और।
जानै सोई दुरात्मा, वाको और न ठौर ॥६॥

'वेद' शब्द से सर्वत्र शब्द राशि ही कही जाती है। शब्द समूह का ज्ञान हो जाने पर भी गुरुपसत्ति आदि रूप प्रयत्नान्तर तथा वैराग्य के बिना अक्षर ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता; इसीलिए ब्रह्म विद्या का पृथक्करण और 'वह परा विद्या है'—ऐसा कहा गया है।

१. प्रथम मुण्डक के दूसरे खण्ड का १२वां मंत्र इसी ओर निर्देश कर रहा है—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

अर्थात्—कर्म द्वारा प्राप्त हुए लोकों की परीक्षा कर, ऐहिक और पारलौकिक भोगों की असारता देखकर ब्राह्मण निर्वेद, वैराग्य को प्राप्त हो जाय, क्योंकि संसार में नित्य पदार्थ (अकृत) नहीं है, और कृत से हमें प्रयोजन क्या? अतः उस नित्य वस्तु का साक्षात ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाना चाहिए।

विद्या, तप सत्संग अरु, ज्ञान न, दान न शील।
धरम न गुन वो नर नहीं, पसु सम सो हठ शील ।।७।।[१]
जल संजम, उर्मी दया, धार सत्य, तट शील।
नदी आतमा की बनी, न्हावै सोइ सुशील ।।८।।
जल से धोवै आतमा, यों कब होय पुनीत ?
सत्य-अहिंसा व्रत धरै, मन को लै मल जीत ।।९।।[२]

आत्मा

परमतत्व की खोज मँहि जीव परौ यहि भूल ।
चीन्है क्यों नँहि आतमा, जाको वो ही मूल ।।१।।
मल, बिच्छेप, अज्ञान कै, परदे पाछै तत्व ।
करम, उपासन, ज्ञान तें, काटै जानै सत्व ।।२।।
माया कै बस आतमा, जीव बनौ अनजान ।
माया बस मँहि जो करै, सो ह्वै ईश समान ।।३।।
तजि माया कौ फेंकि दे, ताहि जानि तू ब्रह्म ।
सार गहै अद्वैत कौ, नासै जगत् विभ्रम ।।४।।
परम तत्व को जानियै, अक्षर पूरण सत्य ।
चीन्है आतम रूप यहि तीन काल मँहि सत्य ।।५।।[३]

---

१. श्री भर्तृहरि 'नीतिशतक' में कहते हैं—

येषां विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुविभारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ।।

अर्थात् जिन पुरुषों के पास न विद्या है, न तप है, न दान है, न ज्ञान है, न शील है, न गुण और न धर्म है, वे मृत्युलोक में पृथ्वी के भारस्वरूप हो मनुष्यरूप धारण करके पशु-से विचरते हैं ।

२. महाभारत में आता है—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहाशीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यतिचान्तरात्मा ।।

अर्थात् "आत्मा नदी है जिसमें संयम का जल, दया की तरंगें, सत्य का प्रवाह और शील का तट है । उस पुण्यतोया में मज्जन करके हे कुन्तीपुत्र ! अहिंसा और सत्य से अपने-आपको पवित्र करो । आत्मा की शुद्धि पानी से नहीं होती ।"

३. पूर्ण आत्मा का स्वरूप श्रुति में इस प्रकार वर्णित है—

देह, विनाशी तत्व सब, तिन्ह माँहि राग न मोह ।
सोइ अछरता जानियै, जाहि न छूवै छोह ।।६।।
जाहि न जीतै कामना, सौ पूरन निःकाम ।
कहै वेद वो पुरुष है, परम तत्व गुणधाम ।।७।।
मन वाणी अरु कर्म सौं, करै सत्य ब्यौहार ।
सुद्ध तत्व ज्ञानी गहइ, सो सब सुख को सार ।।८।।

ब्रह्म

ब्रह्म सत्य मिथ्या जगत, यहि बेदन कौ सार ।
परम तत्व को अंस यहि, भूमा जिव साकार ।।१।।[1]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(बृहदारण्यक० ५।१।१)

अर्थात् "वह सच्चिदानन्द घन परमात्मा अपने-आप से परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मा से परिपूर्ण है; क्योंकि यह पूर्ण संसार उसी पूर्ण परमात्मा से ही प्रकट हुआ है। पूर्ण संसार के पूर्ण (पूरक-परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होने से उस साधक के लिए एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है।"

१. यहाँ ब्रह्म और जीव की एकता का प्रतिपादन किया गया है। "भूमा' से यहाँ तात्पर्य है, व्यापक। छान्दोग्य उपनिषद के सप्तम अध्याय के २३वें, २४वें खंड में 'भूमा' को विशेष रूप से जिज्ञास्य और अमृतरूप बताकर २५वें खंड में "भूमा ही सर्वत्र, सब कुछ और आत्मा है" यह बताया गया है। सनत्कुमार नारद के प्रति कह रहे हैं—"वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दाँयीं ओर है, वही बाँयीं ओर है और वही यह सब है। अब उसी में अहंकारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दाँयीं ओर हूँ, मैं ही बाँयीं ओर हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।"

अब आत्मारूप से ही भूमा का आदेश किया जाता है। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दाँयीं ओर है, आत्मा ही बाँयीं ओर है और आत्मा ही यह सब है। वह इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार मनन करनेवाला तथा विशेष रूप से इस प्रकार

शुद्ध तोय भरि थाल मंहि, लखै सहस शशि रूप।
ब्रह्म बिंब व्यापक भया, जिव प्रतिबिंब स्वरूप ।।२।।
व्यापक तत्व अकास है, घट-घट वाको वास।
अविच्छेद्य यों ब्रह्म सौं जीव, न जाको नास ।।३।।
आभूषण अरु स्वर्ण महिं, किंचित भेद-अभेद।
जीव-ब्रह्म की यहि गती, भेद छेद कहि वेद ।।४।।
माटी के भाँड़े सबै, सब बरतन मँहि माटि।
माटी ही माटी सबै, तैसइ ब्रह्म विराट ।।५।।[1]
कीच न छूटै कीच सौं, करै जतन सौ बार।
किमि पुनि चीन्है ब्रह्म कौं, तजै न विषय विकार ।।६।।
जीव अंश है ब्रह्म कौ, वस्तु भेद तहँ नांहि।
भेद उपाधी सौं पड्यो, मिटै ज्ञान गुरु पाइ ।।७।।

जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है; वह स्वराट् है, सम्पूर्ण लोकों में उसकी यथेच्छ गति होती है। किंतु, जो इससे विपरीत जानते हैं वे अन्यराट् (जिनका राजा अपने से भिन्न कोई और है, ऐसे) और क्षय्यलोक (क्षयशील लोकों को प्राप्त होनेवाले) होते हैं। उनकी सम्पूर्ण लोकों में स्वेच्छागति नहीं होती।"२।। द्वितीय मुण्डक के दूसरे खंड के ११वें मंत्र का भी ऐसा ही भाव है :—

ब्रह्मैवेदमृतं पुरस्ताद्ब्रह्म-
पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं
विश्वमिदं वरिश्रष्ठम् ।।"

अर्थात् यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दाँयीं ओर तथा बाँयीं ओर है। और नीचे तथा ऊपर की ओर भी वही फैला हुआ है, यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।" इस प्रकार इन मंत्रों से ब्रह्म-जीव-आत्मा की एकता का निरूपण भी होता है।

१. छान्दोग्य उपनिषद में उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को बताया है—
"यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात ँ स्याद्वा-
चारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।" ६।१।४
और "यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातँ स्याद्वा—
चारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ।। " ६।१।५
अर्थात्—"सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिका के पिण्ड द्वारा समस्त

प्रकट प्रज्वलित आगि सौं, सहस-अग्निकन होंय।
तैसइ ब्रह्म अखण्ड सौं, जीव बिबिध बिधि होंय ।।८।।[1]
आगी सौं चिनगी भई, सहस समानहि रूप।
लीन वाहि मँह जान तिमि, जिव अरु ब्रह्म स्वरूप ।।९।।
आगी महिं अवयव रहहिं, ब्रह्म निरवयव जान।
जीव खण्ड यहि ब्रह्म कौ, अक्षर वेद प्रमान ।।१०।।

मृत्तिकामय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि, विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।"

और "हे सोम्य ! जिस प्रकार एक सुवर्ण का ज्ञान होने पर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणी पर अवलम्बित नाम-मात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।"

भगवान् श्री शंकराचार्य भी 'विवेक चूड़ामणि' में कहते हैं :—

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्।
न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृषा कल्पित नाममात्रः ।।

अर्थात् मिट्टी का कार्य होने पर भी घड़ा उससे पृथक् नहीं होता, क्योंकि सब ओर से मृत्तिकारूप होने के कारण घड़े का रूप मृत्तिका से पृथक् नहीं है, अतः मिट्टी में मिथ्या ही कल्पित नाममात्र घड़े की सत्ता ही कहाँ है ? (सत्य तो तत्वस्वरूप मृत्तिका ही है।)

१. द्वितीय 'मुण्डक' के प्रथम खंड का प्रथम मंत्र है :—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।।

अर्थात् "वह यह (अक्षर ब्रह्म) सत्य है। जो अपरा विद्या का विषय कर्मफलरूप सत्य है वह आपेक्षिक है; परन्तु, यह परा विद्या का विषय परमार्थ-सत्स्वरूप होने के कारण निरपेक्ष सत्य है। वह यह विद्याविषयक सत्य ही यथार्थ सत्य है, इससे इतर तो अविघा का विषय होने के कारण असत है, मिथ्या है। उस सत्य अक्षर को अत्यन्त परोक्ष होने के कारण प्रत्यक्षवत् किस प्रकार जाने ? इसके लिये श्रुति ने यह दृष्टान्त दिया है—जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से उसी के समान रूपवाले हजारों स्फुलिङ्ग निकलते हैं, हे सोम्य !

नासहि चिनगारी जदपि, तदपि न नासइ जीव।
ब्रह्म बिंब, प्रतिबिंब वो, जानै सोइ सजीव ॥११॥
मेघ मलिनता कै डटे, दिखहि न आतम-चन्द।
ज्ञान-वायु सौं लखि पड़ै, ब्रह्म-जीव सम्बन्ध ॥१२॥
निबिड़ अँधेरे माँहि बँधी, नौका केवट खेय।
बढ़ै न जिव तिमि देह सौं बँधो ब्रह्म किमि ध्येय ॥१३॥
जानै जड़ता देह की, ता माँहि चेतन ब्रह्म।
उपजै सूरज ज्ञान कौ, तहाँ ब्रह्म ही ब्रह्म ॥१४॥
ध्यान बिना यहि जीव भी, ज्ञान न पावहि बेगि।
तातै कहँहि पुरान सब, पिता-पुत्र सम भेद ॥१५॥
बेद ज्ञान कौ मग अगम, तहाँ न ऐसौ भाव।
'मैं' में चेतनता भरो, जीव ब्रह्म परभाव ॥१६॥
घटाकाश अरु बिंब के, गहरे दो सिद्धान्त।
ब्रह्म-जीव जहँ भिन्न नहिं, सो जानइ वेदान्त ॥१७॥

उसी प्रकार उस अक्षर से अनेकों भाव प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।

प्रथम 'मुण्डक' के प्रथम खंड के सातवें मंत्र में मकड़ी, पृथ्वी और मनुष्य-शरीर के दृष्टान्त से यही बात इस प्रकार समझाई गई है—

यथोर्णनाभिः सृजतेगृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है, उसी प्रकार वह परब्रह्म परमेश्वर अपने अन्दर सूक्ष्म रूप से लीन हुए जड़-चेतन रूप जगत को सृष्टि के आरम्भ में नाना प्रकार से उत्पन्न करके फैलाते हैं और प्रलयकाल में उसे अपने में लीन कर लेते हैं। (गीता अध्याय ९ श्लोक ७।८ में भी ऐसा ही कहा गया है) पृथ्वी में जैसे नाना प्रकार की ओषधियाँ होती हैं— जैसा बीज डालते हैं, वैसी ही वस्तु उत्पन्न होती है, उसमें पृथ्वी का कोई पक्षपात नहीं, इसी प्रकार भगवान् जीवों को उनके कर्मरूप बीजों के अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न करते हैं। उनमें किसी प्रकार की विषमता अथवा निर्दयता का दोष नहीं। (ब्रह्मसूत्र में भी आया है—वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति।२।१।३४ अर्थात् परमेश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं आता, क्योंकि वह जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रख कर सृष्टि करता है। ऐसा ही श्रुति दिखलाती है।) तीसरा उदाहरण है, मनुष्य देह

मन-बुद्धि-ब्रह्म

जाना चाहै ब्रह्म को, सुद्ध करै मन मैल।
सलिल ब्रह्म जिव अंस पै, पैरै माया तैल ।।१।।
तेज रूप यहि आतमा, मन है रुई मलान।
ब्रह्म-आग-चिनगी लगै, होवइ तेज समान ।।२।।
मुख लखिबै को चाहिये, दरपन स्वच्छ समीप।
तैसइ खोजै ब्रह्म को, हाथ सुद्ध मन-दीप ।।३।।
ब्रह्म निरवयव जानियै, गति इन्द्रिय की नाँहि।
निर्विकार ह्वै इन्द्रियाँ, सगुन ब्रह्म पहिं जाँहि ।।४।।[1]
निराकार जाना चहै, इन्द्रिय करै निरोध।[2]
चिन्तन कैसौ ब्रह्म का, मन माँहि तृष्णा, क्रोध ।।५।।

में केश-रोएँ उत्पन्न होने का, जिनके लिये मनुष्य को कोई प्रयत्न नहीं करना होता। इसी प्रकार परब्रह्म से यह जगत समय पर स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाता है। भगवान् को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यही बात गीता के चौथे अध्याय में १३वें श्लोक में कही गई है—"मैं इस जगत् को बनाने वाला होने पर भी अकर्ता ही हूँ।"

१. इन्द्रियों की बर्हिमुखता को रोकने वाला ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है। श्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।।

(कठोपनिषद २-१-१)

अर्थात्—"स्वयंभू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। इसीसे जीव बाह्य विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। जिसने अमरत्व की इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियों को रोक लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है।"

२. भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गीता में कह रहे हैं—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। (२-६१)

अर्थात्—इन्द्रियाँ प्रमथन स्वभाववाली होने से मन को बलात् हर लेती हैं, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे, क्योंकि जिस पुरुष के इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है।

परस, सब्द अरु गंध, रस, रूप-राग हैं पाँच।
तिनकै बस महिं इन्द्रियाँ, जरैं जीव एहि आंच ॥६॥[१]
विषय जगत के जीत कै, सुद्ध चित्त ह्वै जाय।
सुद्ध बुद्धि एकाग्र हो, देवै ब्रह्म मिलाय ॥७॥[२]
थूल, सूक्ष्म, कारन बने, तीन देह के रूप।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति हैं, तीनि दशा तद्रूप ॥८॥
ज्ञान, कर्म दस इन्द्रियाँ, प्राण पाँच मन-बुद्धि।
सूक्ष्म देह के तत्व सब, जानै सो सद्बुद्धि ॥९॥[३]

---

१. विषयों की निन्दा करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (२-६२-६३)

अर्थात्—"विषयों को चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति होती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना होती है; कामना में बाधा होने से क्रोध होता है और क्रोध से मूढ़ भाव उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि या ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश से यह पुरुष अपने श्रेय साधन से गिर जाता है।

२. गीता में यही बात इस प्रकार समझाई गई है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ (२-६५)

अर्थात्—"इन्द्रियाँ वश में होने पर प्राप्त हुई अन्तःकरण की स्वच्छता या निर्मलता के होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है। और उस प्रसन्नचित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।"

३. भगवान् श्री शंकराचार्य 'विवेक चूड़ामणि' में 'सूक्ष्म शरीर' का निरूपण करते हुए बताते हैं—

वागादिपञ्च श्रवणादिपञ्च।
प्राणादिपञ्चाभ्रमुखानि पञ्च॥
बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी
पुर्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः॥ ९८॥

अर्थात्—वागादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणादि

कारन का कारन बनी, गहन अविद्या आय।
ज्ञान पाय ज्ञानी बनै, जीवन्मुक्त सुभाय ॥१०॥
आदी माँहि नाँहि लखि परै, रहै न अन्त स्वरूप।
मध माँहि भासै देह यहि, जाने मिथ्या रूप ॥११॥[1]
रस सूखे पै नारियल, माँहि रह गोला भिन्न।
विषय सोख तिमि जीव यहि, रहै देह सौं खिन्न ॥१२॥
आसा की कर चाकरी, बनै जगत् को दास।
दासी आसा जो बनै, बनै जगत फिर दास ॥१३॥

दिव्य प्रकाश

भौतिक, चक्षु प्रकाश अरु, अन्तरवृत्ति-प्रकाश।
ता पर चेतन जानिये आतम स्वयं-प्रकाश ॥१॥
भौतिक, चक्षु प्रकाश बिनु, अन्तर करै प्रकास।
ताइ दशा को भान पुनि, करई आतम-प्रकास ॥२॥
देवै ज्योति प्रकाश को, सोई ज्योति महान्।
अपने ही परकास सौं, आतम ज्योतीवान् ॥३॥[2]

पाँच प्राण, आकाशादि पाँच भूत, बुद्धि आदि अन्तःकरण चतुष्टय, अविद्या तथा काम और कर्म यह पुर्यष्टक (अष्टपुरी) अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

१. आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गीता में कहते हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ (२-२८)

अर्थात् "हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले बिना शरीरवाले और मरने के बाद भी बिना शरीरवाले ही हैं। केवल बीच में ही शरीरवाले प्रतीत होते हैं, फिर उस विषय में क्या चिन्ता है ?"

२. आनन्दघन श्री कृष्णचन्द्र भगवान् कह रहे हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥ (१३-३३)

अर्थात् "हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है। अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्मा ही की सत्ता से सम्पूर्ण जड़वर्ग प्रकाशित होता है।

सूर्य, चंद्र, अगनी, सबद अरु विद्युत बलवान् ।
जहँ न प्रकासै तहँ कियो आत्म-ज्योति को भान ॥४॥[1]
बैठे तज संकल्प सब, वृत्ती अन्तर माँहि ।
आतम जानै दिव्य तब, जाने संग परांहि ॥५॥
सहस यज्ञ को पुन्य अरु, तीरथ सब असनान ।
तारै भव सौं पितर सब, करै ब्रह्म छन ध्यान ॥६॥
तीन लोक मँहि पूज्य वो, कहवँहि बेद पुकार ।
लीन ब्रह्म मँहि एक छन तज सब विषय विकार ॥७॥

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में 'तृतीय ब्राह्मण' के अन्तर्गत याज्ञवल्क्य और विदेहराज जनक का ऐसा संवाद आता है—

"विदेहराज जनक के पास याज्ञवल्क्य गये । उनका विचार था, मैं कुछ उपदेश नहीं करूँगा । किन्तु, पहले कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र के विषय में परस्पर संवाद किया था, उस समय याज्ञवल्क्य ने उन्हें वर दिया था और उन्होंने इच्छानुसार प्रश्न करना ही माँगा था । यह वर याज्ञवल्क्य ने उन्हें दे दिया था, अतः पहले राजा ने ही प्रश्न किया—॥१॥"

"याज्ञवल्क्य जी ! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है ?"

"हे सम्राट् ! यह आदित्यरूप ज्योतिवाला है"—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह आदित्यरूप ज्योति से ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट आता है ।" जनक—"याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?" याज्ञवल्क्य—"उस समय चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है, चन्द्रमा रूप-ज्योति के द्वारा ही यह बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है ।" जनक—"याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । याज्ञवल्क्य जी ! आदित्य के अस्त हो जाने पर तथा चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ?"

"अग्नि ही इसकी ज्योति होता है । यह अग्निरूप ज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है ।" जनक, "याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । याज्ञवल्क्य जी ! आदित्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर और अग्नि के शान्त होने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ?"

"वाक् ही इसकी ज्योति होती है । यह वाक् रूप ज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है । इसी से सम्राट् जहाँ अपना हाथ भी नहीं जाना जाता, वहाँ ज्यों-ही वाणी का उच्चारण किया जाता है, कि पास चला जाता है ।"

निराकार का बोध

इन्द्रिय विषयन वश भईं, विषय बड़ो बलवान ।
विषयन माँहि राता भयो, मन विषयन पर जान ॥१॥
बुद्धी मन सों है परे, ता पर आतम महान ।
ताही पर अव्यक्त है, अंतहि पुरुष प्रमान ॥२॥
बुद्धि बड़ो ही जानिये, यहि थल आत्म महान ।
जहाँ न गति है बुद्धि की, तहँ अव्यक्त प्रधान ॥३॥[1]
या क्रम कौ ही जान कै, कर इन पै अधिकार ।
जहँ बुद्धी रत ईश माँहि, लखै तहाँ साकार ॥४॥
निराकार साकार सों, बड़ो सकल जग जान ।
जाने बिनु साकार किमि, निराकार को ध्यान ? ॥५॥
मन-वाणी निर्मल भये, दे दरशन साकार ।
नहीं विषय मन-वाग को, ब्रह्म रहित आकार ॥६॥

"याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । याज्ञवल्क्य जी ! आदित्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर, अग्नि के शान्त होने पर और वाक् के भी शान्त होने पर यह पुरुष किस ज्योतिवाला रहता है ?"

"आत्मा ही इसकी ज्योति होता है । यह आत्म-ज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है ।" ॥२-६॥

१. इन्द्रियादि का तारतम्य बताते हुए श्रुति कहती है—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तापुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

कठोपनिषद (१।३।१०-११)

अर्थात् "स्थूल पंचभूतों से परे इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों के परे सूक्ष्म पंचभूत अथवा तन्मात्र हैं, उनके परे मन है, मन के परे बुद्धि है । बुद्धि के परे महत्तत्व है, महत्तत्व के परे अव्याकृत माया या सूक्ष्म, प्रत्यगात्मस्वरूप और सब से महान् अव्यक्त है और अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण कारणों का कारण प्रत्यगात्म रूप होने से पुरुष पर है और पुरुष अथवा परमात्म तत्व से परे कुछ नहीं है और न ही परमावधि है ।" गीता के तीसरे अध्याय के ४२-४३ श्लोकों में भी यही क्रम बताया गया है ।

पृथक रूप 'क' बरन के, सब भाषान्ह महिं होय ।
निराकार ध्वनि एक है, बोध चिह्न सों होय ॥७॥
ढको अविद्या आइ कै, मन चंचल बलवान ।
विषय तजै तो बनि परै, परम तत्व को ध्यान ॥८॥
मूला, तूला जानियै, घोर अविद्या रूप ।
ब्रह्म ज्ञान अरु भक्ति सों, कटै फंद अघ रूप ॥९॥
क्रोध, लोभ, मद, मोह सब, राग, द्वेष, अभिमान ।
तूला विद्या जानियै, जा महिं जीव भुलान ॥१०॥
मन लागै जब ईश महिं, होय अविद्या नास ।
तम पहिले ही फाटि है, पाछे सूर्य प्रकास ॥११॥[1]
मूला को आवरन है, आतम के चहुँ ओर ।
ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा, कटै अविद्या घोर ॥१२॥
मानै नित्य अनित्य को, शुचि अशुची, सुख, दु:ख ।
जानै आत्म अनात्म को, पावै संसृति दु:ख ॥१३॥[2]

---

१. 'अध्यात्म रामायण' में आया है—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या-सा प्रकीर्तिता ।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येतिमण्यते ॥

अर्थात् '''मैं देह हूँ' इस बुद्धि का नाम ही अविद्या है और 'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ'' इसी को विद्या कहते हैं ।''

२. 'अनात्म' की व्याख्या करते हुए जगद्गुरु श्री शंकराचार्य 'विवेक चूड़ामणि' में बताते हैं—

देहेन्द्रिय प्राणमनोऽहमादयः
सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः ।
व्योमादि भूतान्यखिलं च विश्वमव्यक्तपर्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥१२४

अर्थात् ''देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और अहंकार आदि सारे विकार, सुखादि सम्पूर्ण विषय, आकाशादि भूत और अव्यक्तपर्यन्त निखिल विश्व—ये सभी अनात्मा हैं ।'' और 'आत्म-निरूपण' करते हुए आगे बताते हैं—

येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किञ्चन ।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्ययम् ॥१३०॥

तथा—अहंकारादिदेहान्ता विषयाश्च सुखादयः ।
वेद्यन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा ॥१३२॥

ईश उपासन मन करै, राग-रोग भज जाय।
ज्ञान सूर्य के तेज सों, माया-तिमिर नसाय ॥१४॥

विषय

विषय-वासना वश भयो, फल विष तिनको जान।
तजै संग निःसंग ह्वै, करै ईश को ध्यान ॥१॥
अन्त विषय तज जाइ हैं जिनमें चित्त भुलान।
तब होवै पीड़ा घनी, अबहि न तज नादान ॥२॥[1]
विषय तजै भज ईश को, मन यों थिर हो जाय।
तब अन्तर महि लख परै ब्रह्म तिमिर खो जाय ॥३॥
आदि-अन्त अद्वैत है, मध महि मिथ्या द्वैत।
विषयन साँचो मानि है, किमि होवै पुनि चेत ॥४॥[2]

अर्थात् "जिसने सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किया हुआ है; किन्तु जिसे कोई व्याप्त नहीं कर सकता तथा जिसके भासने पर यह आभासरूप सारा जगत भासित हो रहा है, वही आत्म-तत्व है। तथा—अहंकार से लेकर देहपर्यन्त, और सुख आदि समस्त विषय जिस नित्य ज्ञानस्वरूप द्वारा घट के समान जाने जाते हैं, वही आत्म तत्त्व है।"

१. श्री भर्तृहरि ने लिखा है—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून ॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

अर्थात् "चिरकाल तक भोग किये गए विषय अन्त में अवश्य छोड़ेंगे, तब उनका वियोग होने में क्या विशेष है?" अर्थात्—कुछ विशेष नहीं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि इनको स्वयं ही छोड़ दे; क्योंकि जब वे आप से छोड़ेंगे तब मनुष्य को बड़ा सन्ताप देंगे, परन्तु, यदि मनुष्य उनको स्वयं त्याग देगा तो अनन्त सुख का भागी होगा।"

२. मूढ़ता के कारण मनुष्य यह सोचता है कि यही एकमात्र लोक है, परलोक नहीं है। यमराज नचिकेता के प्रति कहते हैं—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥

विषय किरच हैं काँच की, मनि सम ग्रातम जान।
मूरख वाको जानियै जाहि देहि-ग्रभिमान ॥५॥
वस्तु ज्ञान ग्ररु कल्पना को करि साचो बोध।
तन की ममता छाँड़ि कै, मन को करै निरोध ॥६॥
ग्रात्म-बोध कौ जानियै, फल मुक्ती तत्काल।
विषय-निवृत्ती के बिना, जन्म मृत्यु जंजाल ॥७॥
विषय मैल मन छाँड़ि दे, ब्रह्म लखै सुस्पष्ट।
पाहन निर्मल ग्राँखि चढ़, हरै ज्योति को कष्ट ॥८॥
बाधक पाहन जिमि बनै, साधक निर्मल होय।
तैसइ मन ग्ररु इन्द्रियाँ, सुद्ध ब्रह्म लें जोय ॥९॥
साँचौ जानहिं देह कौ, छः विकार को वास।
जन्म, वृद्धि ग्ररु ब्याधि पुनि, परिवर्तन, क्षय नास ॥१०॥[1]
सुद्ध तत्व है ग्रातमा, षड् विकार सों हीन।[2]
पामर जिव किमि जानि है, भयो बिषय बस दीन ॥११॥

ग्रयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ (कठोपनिषद १-२-६)

ग्रर्थात्—"धन के मोह से मोहित, प्रमाद में रत रहनेवाले मूर्ख को परलोक या कल्याण का मार्ग दीखता ही नहीं। वह तो केवल यही मानता है कि स्त्री-पुत्रादि भोगों से भरा हुग्रा एकमात्र यही लोक है, इसके सिवा परलोक कोई नहीं। इसी मान्यता के कारण वह बारम्बार मेरे ग्रधीन होते हैं।

१. 'विवेक चूड़ामणि' में भगवान शंकराचार्य कह रहे हैं—

"जन्म वृद्धिपरिणत्यपक्षयव्याधिनाशन विहीनमव्ययम्।
विश्व सृष्ट्यवनघात कारणं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि॥"॥५९॥

ग्रर्थात्—"जो जन्म, वृद्धि (बढ़ना), परिणति (बदना), ग्रपक्षय, व्याधि ग्रौर नाश शरीर के इन छहों विकारों से रहित ग्रौर ग्रविनाशी है तथा विश्व की सृष्टि, पालन, ग्रौर विनाश का कारण है वह ब्रह्म ही तुम हो—ऐसी ग्रपने मन में भावना करो।"

२. ग्रौर श्रीमद्भागवत में शरीर की नौ ग्रवस्थाएँ बताई गई हैं—

भगवान श्रीकृष्ण कह रहे हैं—"हे उद्धव जी! गर्भाधान, गर्भवृद्धि जन्म, बाल्यावस्था, कुमारावस्था, जवानी, ग्रधेड़ ग्रवस्था, बुढ़ापा ग्रौर मृत्यु ये नौ ग्रवस्थाएँ शरीर की हैं।" (११-२२-४६)

श्रवण-मनन हरि नाम कौ, निदिध्यान आसीन।
तजै विषय नर पाइ है, सुख आतम अबिछीन ।।१२।।
बिनु श्रद्धा के भजन सौं, कबहुँ न मन-तम जाय।
श्रद्धा गहरी हो, स्वयं, ज्ञान-दीप जरि जाय ।।१३।।
दो अक्षर हैं मृत्यु महि, तीन ब्रह्म महि जान ।।३।।
'मम' बाँधै है मृत्यु सौं, ब्रह्म 'न मम' पहचान ।।१४।।
'मम' विषयन कौ स्रोत है, सब दुखन्ह की खान।
ममता मन सौं जब गई, आवै आतम ज्ञान ।।१५।।[1]

मन-प्राण पर विजय

जन्म-काल सौं मृत्यु लौं, हरि महि चित्त न लाय।
मोह-सुरा के वश भयो, जग सबरा भरमाय ।।१।।
जब लौं तन महि बल रह्यौ, भोगै नाना भोग।
अन्त काल किमि हरि भजइ, नासै किमि भव-रोग ।।२।।
तन-बल सौं साधन करै, दुःखहीन परलोक।
विषय वासना छाँड़ि कै, मन होवै निःसोक ।।३।।
जब लौं रहइ अपूर्नता, शत-शत इच्छा होय।
इच्छा कारन दुःख कौ, शान्ति न पावै कोय ।।४।।
पूरन, दिव्य, अमूर्त अरु, व्यापक, अज भगवान।
अमन होय, वश प्राण पै, शुद्ध तत्त्व तब जान ।।५।।[2]
जीते जी ही जीतिये, मन, इन्द्रिय, अरु प्रान।
साधन है जो करि सकै, यज्ञ, तपस्या, दान ।।६।।

---

१. देवर्षि नारद जी ने माया से तरने का उपाय बताया है—

कस्तरति कस्तरति मायाम् ? यः संगास्त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति। (नारद-भक्ति-सूत्र। ४६)

अर्थात्—"माया से कौन तरता है, कौन तरता है ? जो आसक्ति का त्याग करता है, जो महापुरुषों का सेवन करता है और जो ममता रहित होता है।"

२. **दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।**
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ (मुंडक० ।२।१।२)

यज्ञ देव-पूजा सही, हो श्रद्धा-अनुराग।
जड़ मूरत चेतन बनै, जिमि दारू गत आग ॥७॥
भगती कै संकल्प सौं, जड़ माँहि चेतन भान।
चेतन देही माँहि पड़ो, आतम ब्रह्म पहिचान ॥८॥
भोग-त्याग तप साँच है, मन तप तपकी आँच।
शुद्ध होय पै जानि है, ब्रह्म नित्य, अज, साँच ॥९॥
बाधा मन अरु प्रान की, हटै ब्रह्म लखि जाय।
जीतै मन अरु प्रान को, मुक्ति जीव पा जाय ॥१०॥[1]
भक्ति-भावना माँहि रमै, थिर जदि मन हो जाय।
राज-योग योगी कहहिं, वश इन्द्रिय समुदाय ॥११॥
करहिं प्रान वश योगि जन, मन आपहि रुकि जाय।
मन रोकै, थिर इन्द्रियां, सो हठ-योग कहाय ॥१२॥
आतम मन सम्बन्ध सौं, करि है ज्ञान विकास।
जहाँ प्रान सम्बन्ध ह्वै, होवै क्रिया प्रकास ॥१३॥
आतम जानै निष्क्रिया, जिमि चुम्बक पाषान।
क्रिया लौह माँहि घटि रही, जानै तैसइ प्रान ॥१४॥
परम पुरुष को जानियै, अमन औरु बिनु प्रान।
शुभ्र होय, बस प्रान-मन, मिलिहै पुरुष प्रधान ॥१५॥[2]
सब्द सक्ति जानै प्रथम, बोध लक्षणा बाद।
पहिले जानै सगुण को, पुनि निर्गुण को स्वाद ॥१६॥

---

१. **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्ष्योः।**
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम् ॥
(ब्रह्मबिन्दु० २।३)

अर्थात् मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष में मन ही कारण हैं; विषयासक्त मन बाँधता है और निर्विषय मन ही मुक्त माना जाता है।

२. 'कठोपनिषद्' में आया है—

मनसैवेदमाप्तव्यं (२।१।११)

यह परमात्म तत्त्व शुद्ध मन से ही प्राप्त किये जाने योग्य है।

इसी प्रकार 'मुण्डक' में भी कहा है—

ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥३।१।८

उस अवयवरहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक निरन्तर ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से देखता है।

संग-असंग

निरुपाधिक यहि ब्रह्म है, आतम वाही रूप।
संग उपाधी के भयो, जीव अधम अघ रूप ॥१॥
जाग्रति माँहि खो जाय है, लखा सपन संसार।
सपन-जगत माँहिं नासि है, जाग्रत कौ व्यापार ॥२॥
अरु सुषुप्ति माँहि नष्ट ह्वै, मिथ्या सब जंजाल।
तदपि चेतना जग रही, जगै जो तिनिहुँ काल ॥३॥[१]
आतम यों निःसंग है, सकल प्राण-मन खेल।
जीतइ मन अरु प्राण कौ, आत्म-ब्रह्म ह्वै मेल ॥४॥

---

१. सुषुप्ति में इन्द्रियों का लय स्थान आत्मा है, इसका निरूपण 'प्रश्नोपनिषद' में हुआ है—

तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते। (४।२)

अर्थात्, "तब उससे आचार्य ने कहा—हे, गार्ग्य! जिस प्रकार सूर्य के अस्त होने पर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डल में ही एकत्रित हो जाती हैं और उसका उदय होने पर वे फिर फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे इन्द्रियाँ परमदेव मन में एकीभाव को प्राप्त हो जाती हैं। इससे तब वह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है, और न कोई चेष्टा करता है, तब उसे सोता है, ऐसा कहते हैं।" इस प्रकार सारा जंजाल नष्टप्रायः हो जाता है, और तब जागता कौन है—इस पर श्रुति कहती है—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः। (प्रश्न० ४।३)

अर्थात् "सुषुप्ति काल में इस शरीर-रूप पुर में प्राणाग्नि ही जागते हैं। यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्यपचन है तथा जो गार्हपत्य से ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन ले जाये जाने के कारण, आहवानीय अग्नि है।" [आगे चतुर्थ मंत्र में मन को यजमान बताकर उसके ब्रह्मलोक में जाने की बात कही गई है। इससे यह कहा जा सकता है, कि सुषुप्ति में मन का भी आत्मा में लय हो जाता है।]

मन सौं ही यहि जानियै, सकल जगत संकल्प।
जासौं बन्धन माँहि पड़ो, जीव कोटि, सत कल्प ॥५॥
बेदन को उपदेश यहि, ब्रह्म स्वयं को जान।
मुक्ति पाय, बन्धन कटहिं, दिव्य रूप पहिचान ॥६॥
नहिं अभाव होइ सत्य को, बन्धन मिथ्या होय।
करहि जतन मुक्ती मिलहि, ज्ञान-ब्रह्म फल होय ॥७॥
जन्म अकेलो लेहि नर, जोड़ै सब परिवार।
तिमि आतम अद्वैत यहि, मन सौं द्वैत-विकार ॥८॥
अहंकार, बुधि, चित्त, मन, अंतर चारिहु भाग।
तेज आतम को पाइ कै, जड़ सबु होवै जाग ॥९॥
विद्युत चालित यन्त्र जिमि, भार्जहिं, धूम, उड़ाहिं।
एक शक्ति सबु माँहि रहई, गतिविधि भिन्न लखाहिं ॥१०॥
आत्म तत्त्व तिमि एक यहि, तँह नहिं खंड, विकार।
मन कै ही सम्बन्ध सौं, भासै तहँ ब्यौपार ॥११॥
मन संशय, चित चिंतना, बुधि निश्चय करि लेय।
अहंकार 'कर्ता स्वयं,' आत्म तत्त्व ढकि देय ॥१२॥
तजै जगत को संग मन, ईश भजै निःकाम।
अहंभाव जाता रहइ, मिलहि ब्रह्म कौ धाम ॥१३॥
इन्द्रिय निज-निज अर्थ महिं, करहिं सकल ब्यौहार।
ज्ञानी तिनकौ वश करहि, मन पुनि तजइ विकार ॥१४॥
होय शुद्ध मन जानियै, चित, बुधि मैल नसाय।
अहंकार पुनि नासि है, शुद्ध तत्त्व लखि जाय ॥१५॥[1]
मन मन्दिर महिं पाप कौ, कचरो भरो अपार।
झाड़ू लागै पुन्य की, जीवन होय सुधार ॥१६॥

---

१. श्रुति कहती हैं :

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥
(कठ० १।३।८)

अर्थात् जो विवेकी है, जिसका मन निगृहीत है, जो सदा पवित्र रहता है, वह ऐसे परम पद को पाता है, जहाँ से लौटकर फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता।"

ध्यान

निकट पुष्प यदि लाल हो, स्फटिक लाल दरसाय ।
तिमि मन के परभाव सौं, शुद्ध अशुद्ध लखाय ॥१॥

पुहुप उपाधी जानियै, ताहि हटे मनि श्वेत ।
हटै उपाधी प्रान-मन, तौ कछु होवै चेत ॥२॥

मन जपना जग छांड़ि दै, जप जग-जनक महान ।
यही हटानो जानियै, दिशि-निशि कर लै ध्यान ॥३॥[1]

तप्त पिण्ड जिमि लोह कौ, करै भस्म जल-धार ।
तिमि उन्मुख मन आत्म माँहि, भूलहि सब संसार ॥४॥

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति माँहि, बनहि न अस अभ्यास ।
चौथी दशा तुरीय की, जहँ बस दिव्य प्रकास ॥५॥

जाग्रत, जग ब्यौपार सब, स्वप्न सृष्टि नव रूप ।
नहि सुषुप्ति माँहि प्रान-मन भान, अविद्या-कूप ॥६॥

ज्ञानी पहुँच तुरीय माँहि, ध्यान मग्न ह्वै जाय ।
ब्यापक, दिव्य, अमूर्त, अज, अमन, पूर्ण लखि जाय ॥७॥

माया जदपि अनादि यहि, मन बिनु करइ न काम ।
आतम अक्षर सौं परे, जाहि अविद्या नाम ॥८॥

करै ध्यान जब ब्रह्म कौ, जग-संकल्प बिहाय ।
मन माया सौं पृथक ह्वै, तिमिर-अजान नसाय ॥९॥

---

१. श्री भर्तृहरि ने ध्यानावस्थिति का सुन्दर चित्र अंकित किया है :

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशंकाः
कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥
(वैराग्यशतक ।३९)

अर्थात् "क्या मेरे ऐसे दिन आवेंगे जब मैं गंगाजी के किनारे हिमालय की चट्टान पर पद्मासन लगाकर बैठूँगा और ब्रह्म के ध्यान में लीन होकर विधि-पूर्वक नेत्र मूँद कर योग-निद्रा को प्राप्त करूँगा तथा बूढ़े हिरण भय को छोड़ कर मेरे शरीर में अपने शरीर को रगड़ेंगे यानी अपनी खुजली शान्त करेंगे।"

वायु वेग सौं बच रहइ, दीपक बाति अडोल।
लीन ब्रह्म माँहि मन तथा, रहवइ सदा अलोल ॥१०॥[1]
मन विषयन्ह माँहि रम पड़ै, पथ विचलित ह्वै जाय।
जथा बाल के बेग सौं, नाव अलक्ष बहाय ॥११॥
ध्यान करै अभ्यास अरु, क्रम-क्रम मैल छुड़ाय।
मन निर्मल तब जानिये, ज्ञान-दीप जरि जाय ॥१२॥

आनन्द

बाल, युवा अरु बृद्ध जस, तस आतम त्रय रूप।
प्रथम जीव, ईश्वर पुनः, तीजो ब्रह्म स्वरूप ॥१॥
मूढ़ भाव माँहि जीव यहि, बालक सम अनजान।
युवा भये कछु चेतना, करै ईश को ध्यान ॥२॥
पकै ज्ञान होइ बृद्ध जब, ब्रह्म लखै सर्वत्र।
अन्तर माँहि वो लख पड़े, क्यों भटके अन्यत्र ? ॥३॥
जान पड़ै ज्यों भिन्न ही, सपने कौ संसार।
भिन्न न, भीतर ही लग्यो, ईश्वर को दरबार ॥४॥
मन आशा कै फेर माँहि, जग माँहि रह्यो भुलाय।
अन्तर्मुखी न एक छिन, छिन-छिन दिन घुल जाय ॥५॥
आशा नदी विशाल है, भरो मनोरथ नीर।
मकर राग, चिन्ता तटी, तर्क तरंग गम्भीर ॥६॥
तरै परम योगी वही, पावइ सुख चित रूप।
आशा रहित अनन्द माँहि, रहइ अनन्द स्वरूप ॥७॥[2]

---

१. गीता में आया है :

यथा दीपो निवातस्थोनेङ्गते सोपमास्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ ६।१९

जिस प्रकार वायु-रहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की कही गई है।

२. श्री भर्तृहरि "वैराग्यशतक" में लिखते हैं—

आशा नाम नदीमनोरथजला तृष्णातरंगाकुला।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥

सत, चित आतम जानियै, आतम आनन्द रूप।
तृष्णा त्यागै जीव जब, लखि है आत्मस्वरूप ।।८।।
आशा-तृष्णा मिट गई, आई भक्ति अनन्य।
भाव ईश कौ पाव जिव, जन्म सुफल अरु धन्य ।।९।।
अणु-अणु माँहि जब जीव यहि, लखै एक भगवान्।
करे स्वयं तत्काल यह, निज आतम कौ ज्ञान ।।१०।।
ज्ञान न बाहिर सौं मिलइ, भीतर ही भण्डार।
सद्गुरु की होवै दया, होय अविद्या पार ।।११।।
बाल युवा अरु वृद्ध तौ, थूल सरीर लखाय।
आतम एक अखण्ड रस, सत कबहूँ न नसाय ।।१२।।
रहइ सदा तिहुँ काल माँहि, आतम रूप अनन्द।
स्वाद चाखनो चहै तौ, कटै आस कौ फन्द ।।१३।।
बाहर सुख जड़ खोजई, तजै न तृष्णा संग।
निज स्वरूप तब जानियै, मन होवे निःसंग ।।१४।।[1]

मूल रूप

करे कामना मुक्ति की, चीह्नै आद्य स्वरूप।
ढकौ आवरण ज्ञान पै, पड़्यो पाप के कूप ।।१।।
जीव अधोगति माँहि गिरो, मूल रूप बिसराय।
मूल रूप यहि आतमा, अन्तर महीं लुकाय ।।२।।

अर्थात् आशा एक नदी है, मनोरथरूपी जल जिसमें भरा है, जिसमें तृष्णा-रूपी लहरें उठती हैं, जिसमें विषयरूपी ग्राह रहते हैं, वितर्क-रूपी पक्षी जिस पर विचरते हैं, और जो धैर्यरूपी कूलद्रुमों को गिराती है और जो मोहरूपी भँवर से अत्यन्त दुस्तर और कठिन हो रही है। बड़ी चिन्ता ही इस नदी के तट हैं। बड़े-बड़े योगीजन जिनका अन्तःकरण शुद्ध, है इस नदी के पार जाकर आनन्द प्राप्त करते हैं।

१. भागवत् में लिखा है—

"प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र और आत्मानुभूति आदि सभी प्रमाणों से यह सिद्ध है कि यह जगत् उत्पत्ति-विनाशशील होने के कारण अनित्य एवं असत्य है। यह बात जानकर जगत् में असंग भाव से विचरना चाहिए।" (११।२८।९)

बनो भील सौं द्विज प्रवर, पुनि ऋषि ब्रह्म समान।
मूल रूप पहिचान नर, बालमीकि परमान ॥३॥[१]
जीव जपै जब ईश कौ, जग-संकल्प विहाय।
प्रकटै सूरज ज्ञान कौ, ब्रह्म स्वरूप लखाय ॥४॥
सोपाधिक ईश्वर बनो, निरुपाधिक यहि ब्रह्म।
जीव उपाधी संग बनइ, आत्म रूप वो ब्रह्म ॥५॥
ज्यौं पाहन सौं प्रकट ह्वै, निर्मल निर्झर नीर।
त्यौं अन्तर ही ज्ञान को, भरो अलौकिक क्षीर ॥६॥
ताकौ रस सो जानई, जो जीतइ मन-प्रान।
जबइ न मन संकल्प किछु, मूल तत्त्व को भान ॥७॥
जब लौं माया आवरण, लखै न दिव्य-प्रकास।
प्रकट जेहि छिन आतमा, सत-सत सूर्य विकास ॥८॥
करै नियन्त्रन प्रान पै, सकै न मन तो जीत।
योग सुफल तब जानियै, मन जब होय पुनीत ॥९॥
भँवरा काटै काठ कौ, बँधे कमल के पास।
ऐसिहु रति हरिपद कमल, तबइ मैल-मन-नास ॥१०॥
दिव्य चक्षु बिनु किमि लखै, दिव्य ब्रह्म परिपूर्ण।
सुद्ध बुद्ध-मन इन्द्रियाँ, जोवै अज, विभु, पूर्ण ॥११॥
चित्त वृत्ति कौ रोक दे, सोई धीर कहाय।
तजै जगत-संकल्प जड़, जगदीश्वर मिल जाय ॥१२॥[२]
मन अन्तर्मुख होय जब, और प्रान रुक जाय।
जोगी पद्मासन लगै, सुधा-सरोवर न्हाय ॥१३॥
ब्रह्म-ज्ञान को पाइके, जीव ब्रह्म ह्वै जाय।
ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा, आद्य रूप दरसाय ॥१४॥[३]

---

१. उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भये ब्रह्म-समाना ॥
(रामचरित मानस)

२. चित्त-वृत्ति का निरोध ही योग है—('पंतजलि योग-सूत्र' १।१)

३. श्रीमद्भागवत् में कहा गया है—

"जब चित्त स्वयं आत्मविचार अथवा योगाभ्यास द्वारा सत्त्वगुण-रजोगुण—तमोगुण सम्बन्धी व्यवहारिक वृत्तियों और जाग्रत-स्वप्न आदि स्वाभाविक वृत्तियों का त्याग करके उपराम हो जाता है, तब शान्तवृत्ति में

परमात्मा

कारन जग उत्पत्ति कौ, ब्रह्म विशुद्ध महान।
जानै जीव न जड़मती, तब कर ईश बखान ॥१॥
इन्द्रिय, मन अरु प्रान पुनि, पंच तत्त्व, संसार।
जन्म आत्म सौं वस्तुतः, बेदन कही पुकार ॥२॥
निरुपाधिक यहि ब्रह्म है, तहां न होइ बिकार।
माया के सम्बन्ध सौं, उपजइ सब संसार ॥३॥
जीवात्मा, परमात्मा, ब्रह्म, सकल इक रूप।
सूरज के परकास सब, किरन, उजाला, धूप ॥४॥
देह-संग सौं जीव यह, मूल दियो बिसराय।
गुरु हित कीन्हो तौ प्रथम, ईश्वर रूप बताय ॥५॥
किंचित-किंचित ज्ञान पा, नर बड़ करइ गुमान।
ध्यान न ईश्वर कौ करै, मद पद-पद अभिमान ॥६॥
सत्य ज्ञान को भान जे, गुरु किरपा सौं पायं।
तौ अन्तर मांहि पाछिलो लख अज्ञान लजायं ॥७॥
ज्ञान-दीप की दीप्ति सौं, अन्तर-तिमिर नसाय।
ब्रह्म-ईश करुना करै, जीव मुक्त ह्वै जाय ॥८॥
उदय ज्ञान कौ जेहि छन, ईश्वर करै सहाय।
देय बढ़प्पन भक्त कौ, वाकौ यही सुभाय ॥९॥

---

१. श्रुति—'प्राण' की उत्पत्ति बताती है—

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे
छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे।

(प्रश्नोपनिषद् ३/३)

अर्थात् "यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मनुष्य-शरीर से यह छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस आत्मा में प्राण-व्याप्त है तथा यह मनोकृत संकल्पादि से इस शरीर में आ जाता है।"

२. श्रीमद्भागवत् में श्री शुकदेव जी राजा परीक्षित को बता रहे हैं—

"मन ही आत्मा के लिए शरीर, विषय और कर्मों की कल्पना कर लेता है; और उस मन की सृष्टि करती है माया (अविद्या)। वास्तव में माया ही जीव के संसार-चक्र में पड़ने का कारण है। (१२।५।६)

जाहि बड़ाई ईश दे, दरसन भी वो पाय।
जीव बनई परमात्मा, जीवन्मुक्त कहाय ॥१०॥

जगत की उत्पत्ति

व्यास रचित अट्ठारहों, कहहिं पुरान पुकार।
पर पीड़न ही पाप है, पुन्यहु पर-उपकार ॥१॥[१]
जानहिं या सिद्धान्त कौ, करहि ब्रह्म की खोज।
पुन्य करइ निःस्वार्थ जो, ताके मुख पै ओज ॥२॥
चिन्तन करहि जो ब्रह्म कौ, वो जानइ यहि सार।
चेतन ब्रह्म स्वरूप सौं, उपजै जड़ संसार ॥३॥
मन, इन्द्रिय अरु प्रान सब, थूल देह जग जाल।
सबहिं ब्रह्म सौं ऊपजइँ, घूमहिं माया जाल ॥४॥
जड़, जड़ सौं ही जन्म लइ, यहि सिद्धान्त अकाट्य।
किमि चेतन सौं उपजइ, पुनि जड़, जड़, कौ नाट्य ॥५॥
उत्पत्ती के हेतु द्वय, बेदन दियो बताय।
उपादान कारन प्रथम, पुनि निमित्त कहलाय ॥६॥[२]
जिमि घट कारन मृत्तिका, कुम्भकार दो जान।
किन्तु जगत कौ मूल ही, एक बेद परमान ॥७॥
थूल देह चेतन लखहि नख अरु केश उगाय।
तिमि चेतन यहि आतमा, सकल जगत उपजाय ॥८॥

---

१. परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
(रामचरितमानस)

२. ब्रह्म ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण है। श्रीमद्भागवत् में लिखा है—

"उद्धव जी ! जो कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष वस्तु है, वह आत्मा ही है। वही सर्वशक्तिमान भी है। जो कुछ विश्व-सृष्टि प्रतीत हो रही है, इसका वह निमित्त कारण तो है ही, उपादान कारण भी है अर्थात् वही विश्व बनाता भी है, वही रक्षक है और रक्षित भी वही है। सर्वात्मा भगवान् ही इसका संहार करते हैं और जिसका संहार होता है, वह भी वे ही हैं।" (११।२८।६)

पुनि देही जड़ जानियै, ता माँहि चेतन वास।
जड़ माया की शक्ति सौं, चेतन सृष्टि बिकास ।।९।।
माया शक्ति अनादि यहि, शक्तिमान है ब्रह्म।
संशय जड़ मति जनि करहि, बिनसहि करइ जो भ्रम ।।१०।।[1]
माया के गुण तीन हैं, सत्, रज, तम बिख्यात।
ब्रह्म ओढ़ के तीनिहों, रचइ रात-परभात ।।११।।
रज-गुण मिलै तो ब्रह्म यहि, ब्रह्मा बन उपजाय।
सत-गुण के परभाव सौं, पालइ विष्णु कहाय ।।१२।।
साथ होय तम गुण जबइ, रुद्र बनइ करि ध्वंस।
सुद्ध ब्रह्म अज मूल जिमि, सूक्ष्म बीज अरु अंस ।।१३।।
आतम उज्जबल तत्व यहि, खड्ग म्यान ज्यौं होय।
पंचकोश की म्यान कौ, तजै ब्रह्म लै जोय ।।१४।।
थूल देह तौ जानिये, प्रथम अन्नमय कोश।
पंच प्राण, कर्मेन्द्रियाँ, बर्नहिं प्राणमय कोश ।।१५।।
कोश मनोमय को कह्यो, अहंकार, मन मूल।
बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियाँ, कोश न चौथा भूल ।।१६।।
कोश कह्यो विज्ञानमय, पंचम बेद बताय—
आनँदमय जाको रचै, माया, सूक्षम काय ।।१७।।[2]

---

१. "मायोपाधिक ईश्वर ही सबका स्रष्टा है" इसका प्रतिपादन 'श्वेताश्वेतरोपनिषद्' के इस मन्त्र से भी होता है—

"छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ।। (४।९)

अर्थात् "वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य, वर्तमान और, और भी जो-कुछ वेद बतलाते हैं वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है, और उस प्रपञ्च में ही माया से अन्य-सा होकर बंधा हुआ है।"

२. 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की 'ब्रह्मानन्दवल्ली' के द्वितीय, तृतीय चतुर्थ एवं पंचम अनुवाक अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय पुरुष की व्याख्या करते हैं और 'विवेक-चूड़ामणि' में श्री भगवान् शंकराचार्य ने इन पाँचों कोशों का सरल विवेचन दिया है, जो निम्न प्रकार है—

अन्नमय कोश—

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोशश्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः।
त्वक्चर्ममांस रुधिरास्थिपरीषराशिर्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः ।। १५६

अर्थात् अन्न से उत्पन्न हुआ यह देह ही अन्नमय कोश है, जो अन्न से से ही जीता है और उसके बिना नष्ट हो जाता है। यह त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, अस्थि और मल आदि का समूह स्वयं नित्य शुद्ध-आत्मा नहीं हो सकता।

प्राणमय कोश :

कर्मेन्द्रियैः पञ्चभिरन्चितोऽयं प्राणो भवेत्प्राणमयस्तु कोशः।
येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णः प्रवर्ततेऽसौ सकलक्रियासु ।।१६७।।

अर्थात् पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त यह प्राण ही प्राणमय कोश कहलाता है, जिससे युक्त यह अन्नमयकोश अन्न से तृप्त होकर समस्त कार्यों में प्रवृत्त होता है।

मनोमय कोश :

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्प हेतुः।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयांस्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य विजृम्भते यः ।।१६९।।

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही "मैं' मेरी" आदि विकल्पों का हेतु मनोमय कोश है, जो नामादि भेद-कल्पनाओं से जाना जाता है और बड़ा बलवान् है और पूर्व कोशों को व्याप्त करके स्थित है।

विज्ञानमय कोश :

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्धं सवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम् ।।

अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के साथ वृत्तियुक्त बुद्धि ही कर्त्तापन के स्वभाववाला विज्ञानमय कोश है, जो पुरुष के [जन्म-मरण-रूप] संसार का कारण है।

आनन्दमय कोश :

आनन्द प्रतिबिम्बचुम्बित तनुर्वृत्तिस्तमोजृम्भिता
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपः स्वयं
भूत्वानन्दति यत्र साधु तनुभृन्मात्रः प्रयत्नं विना ।।

अर्थात् आनन्दस्वरूप आत्मा के प्रतिबिम्ब से चुम्बित तथा तमोगुण से प्रकट हुई वृत्ति आनन्दमय कोश है। वह प्रिय आदि (प्रिय, मोद और प्रमोद इन तीन) गुणों से युक्त है और अपने अभीष्ट पदार्थ के प्राप्त होने पर प्रकट होती है। पुण्यकर्म के परिपाक होने पर उसके फलस्वरूप सुख का अनुभव करते समय भाग्यवान् पुरुषों को उस आनन्दमय कोश का स्वयं ही भान होता है, जिससे सम्पूर्ण देहधारी जीव बिना प्रयत्न के ही अति आनन्दित होते हैं।

पंचकोश सौं मुक्त ह्वै, सुद्ध ब्रह्म दरसाय।
जीव भाव सौं जग पड़ै, आवागमन नसाय ॥१८॥[1]
थूल देह मँहि जीव की, दशा चार पहचान।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अरु, अंत तुरीय महान ॥१९॥
जाग्रत मँहि व्यवहार जब, करै विश्व सौं जीव।
विश्वात्मा बेदन कह्यो, गनइ देह निज सींव ॥२०॥
स्वप्नावस्था मँहि बन्यो, ब्रह्मा सम बलवान।
करै सृष्टि संकल्प सौं, यथा ब्रह्म भगवान् ॥२१॥
अरु सुषुप्ति मँहि जीव यहि, प्राज्ञात्मा कहलाय।
यथा अविद्या सौं ढक्यो, ईश्वर ब्रह्म कहाय ॥२२॥
तीनि अवस्था जीति जब, ब्रह्म लखै सर्वत्र।
सो तुरीय योगी कहँहि, पुनि न जन्म अन्यत्र ॥२३॥[2]
जिमि निद्रा की शक्ति सौं, रचै स्वप्न संसार।
तिमि ईश्वर संकल्प ही, जग उत्पत्ती सार ॥२४॥
ब्रह्म अविद्या शक्ति सौं, रचै सकल जग जाल।
चारि अवस्था जानि के, बिगड़ी लेइ संभाल ॥२५॥[3]

---

१. **पंचकोश परित्यागे साक्षिबोधावशेषतः।**
स्वस्वरूपं सएवस्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥ (पंचदशी ३।२२)

अन्नमयादि पंचकोषों का परित्याग कर देने पर उन पाँचों कोशों का साक्षी आत्मा, बोध शेष रह जाता है। बस वही साक्षी-रूप बोध ही तो अपना निज रूप ब्रह्म है। उस साक्षी रूपी बोध को शून्य कह देना हँसी-खेल नहीं है। यह एक बड़ा दुर्घट काम है।

२. 'श्रीमद्भागवत्' में इसी प्रसंग में ब्रह्म का निरूपण करते हुए कहा गया है—

"जीव की वृत्तियों के तीन विभाग हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जो इन अवस्थाओं में इनके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ के मायामय रूपों में प्रतीत होता है और इन अवस्थाओं से परे तुरीय तत्त्व के रूप में भी लक्षित होता है, वही ब्रह्म है। [उसी को यहाँ 'अपाश्रय' शब्द से कहा गया है।] (१२।७।१९)।

३. 'छान्दोग्य उपनिषद्' में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत् (३।१४।१)।

अर्थात् "यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति

व्यसन बेद के पढ़न कौ, हृदय भक्ति सौं हीन।
गोपी ऊखल बंध रह्यो, ब्रह्म बनो अति दीन ॥२६॥
तंदुल काचो खा गयो, पूर्ण ब्रह्म आनन्द।
रथ अर्जुन को हाँकतो, बंधो भक्ति के फँद ॥२७॥
सुद्ध करै मन भक्ति सौं, पुनि-पुनि बेद बताय।
बिना जतन के जीव जड़, कबहुँ न जग किछु पाय ॥२८॥

आत्म-बल

मन, इन्द्रिय अरु प्रान सब, 'त्वं' पदार्थ यहि जान।
पृथिवी, जल, आकाश, अरु, अगनि, पवन, 'तत्' मान ॥१॥
'तत्-त्वं' दोनों कौ उदय, ब्रह्म बेद परमान।
आतम-बल संचय करै, तुरत लेइ पहचान ॥२॥
विषय छाँड़ि मन-कर्म सौं, जाग्रत होय सुजान।
बढ़ै आत्म-बल उर खिलै, पूरण चन्द्र समान ॥३॥
विष चढ़ मारै जीव को, केवल एक ही बार।
चढ़ै विषय-विष तौ मरै, जीव सहस-लख बार ॥४॥
विषय लखै मन और को, गहहि विकार तुरन्त।
स्वयं विषय रातो भयौ, नरक पड़ै तब अन्त ॥५॥[1]
विषय तजै, ऋण-त्रय चुका, कर भगवत को ध्यान।
गुरु श्रोत्रिय जो करि कृपा, ब्रह्म मर्म लै जान ॥६॥
मातु-पिता अरु बंस को, करि सेवा निःस्वार्थ।
ऋण पितृन् कौ दै चुका, तब साधै परमार्थ ॥७॥

और लय—उस ब्रह्म से ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।"

१. 'विवेक चूड़ामणि' में भगवान् शंकराचार्य ने 'विषय-निन्दा' के प्रसंग में कहा है—

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्प विषादपि।
विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥

अर्थात्—दोष में विषय काले सर्प के विष से भी तीव्र है, क्योंकि विष तो खाने वाले को ही मारता है, परन्तु विषय तो आँखों से देखने वाले को भी नहीं छोड़ते।

बास इन्द्रियन माँहि कराँहि, बेद बतावइ देव ।
होम-यज्ञ सौं तुष्ट हौं, ऋण देवन कौ देब ।।८।।
पढ़इ बेद पुनि जो करइ, शास्त्रीय आचार ।
जीवन वाही है सुफल, ऋषि-ऋण देइ उतार ।।९।।
उऋण होइ पुनि नर करइ, साधन मोक्ष सँभाल ।
निर्विकार मन होय जिमि, निष्प्रपंच लघु लाल ।।१०।।[1]
सफल साधना वो सही, 'तत्-त्वं' जँह हों एक ।
पहिले कर्म, उपासना, पुनि कर प्राप्त विवेक ।।११।।

मन की शुद्धि

मन, इन्द्रिय अरु प्राण यह, आध्यात्मिक सब तत्त्व ।
पंचभूत भौतिक जगत, जान मूल सुध सत्त्व ।।१।।
जग प्रपंच बस जीव यहि, गयो मूल को भूल ।
जगतपिता बिसराइ कै, पावै नाना शूल ।।२।।
मूल रूप को पाइ कै, सत्य ब्रह्म पा जाय ।
भूलहि आदि स्वरूप नर, निश्चित जन्म नसाय ।।३।।
तज मिथ्या अभिमान कौ, भजइ न ईश महान ।
नासइ नहुष समान वो, भूल मूल अज्ञान ।।४।।[2]
देह अपावन जो तजइ, स्वेद, मूत्र, मल आदि ।[3]
न्हाइ करइ पावन पुनः मोही, जीव अनादि ।।५।।

१. अर्थात्—मन को लाल मणि की तरह शुद्ध, निर्विकार बनाये ।

२. नहुष की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—एक बार इन्द्र ब्रह्म-हत्या के डर से स्वर्ग छोड़ गुप्तवास कर रहे थे। तब देवताओं ने भूलोक के सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा राजा नहुष को स्वर्ग के सिंहासन पर ला बैठाया। नहुष ने स्वर्ग का राज्य पा इन्द्राणी पर भी अपना अधिकार मान लिया और उसके साथ भोग की कामना की। देवताओं के गुरु बृहस्पति के परामर्श से इन्द्राणी ने कहला भेजा—"नहुष ऋषियों के कन्धों पर ढोई गई पालकी पर चढ़कर मेरे पास आ सकते हैं।" मदान्ध नहुष ने बलात् कृशकाय ऋषियों के कन्धों पर पालकी रखी और गर्व से फूला इन्द्राणी के पास चला। पालकी ढोने में आगे अगस्त्य ऋषि थे। नहुष ने उनके लात मारकर रहा—'ओ सर्प चलो!' अर्थात् शीघ्र चलो। अगस्त्यजी ने उसे श्राप दिया—'अरे ओ सर्प! तू नीचे गिर!' नहुष अजगर बना। बाद में युधिष्ठिर से प्रश्नोत्तर कर उसके शाप की शान्ति हुई। (महाभारत—वनपर्व)

आत्म तत्त्व सौं जन्म लइ मन कर तासु मलीन।
करइ सुद्ध मन ज्ञान सौं, कब लौं रहि है दीन ॥६॥
होय सुद्ध मन जान लै; मूल सुद्ध परब्रह्म।
तजै अविद्या जाल कौ, जासु होय चित्त भ्रम ॥७॥
जन्मशील मन, प्राण यहि, मरनशील भी जान।
तब लौं दूरहि मुक्ति पद, जब लौं मूल न जान ॥८॥
सूक्ष्म देह के साथ ही, मरण समय मन जाय।[४]
मूल रूप की प्राप्ति बिनु पुनि-पुनि उपज, नसाय ॥९॥
पा बिद्या आवइ बिनय, पुनि नर होइ सुपात्र।
तासौं धन उपलब्ध हो, धर्म करै लख पात्र ॥१०॥
या क्रम सौं हो सुद्ध मन, तन कौ तज अभिमान।
ध्यान करै श्रीराम को, जग-जंजाल निदान ॥११॥

व्यष्टि-समष्टि

थूल देह की व्यष्टि महि, तीनि अवस्था होंय।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति बिच, जीवन सबरो खोंय ॥१॥
व्यष्टि देह-अभिमानता, सब दुर्गुन की खान।
साधइ साधु समष्टि जहँ, सब ह्वै ब्रह्म समान ॥२॥

---

३. भगवान् श्री शंकराचार्य 'विवेक चूड़ामणि' में कहते हैं—

त्वङ्मांस रुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम्।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निद्यमिदं वपुः ॥८९॥

अर्थात् त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु (नस), मेद मज्जा और अस्थियों का समूह तथा मल-मूत्र से भरा हुआ यह स्थूल देह अति निन्दनीय है।"

४. श्रुति भगवती कहती है—

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्त तेजाः
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥

(प्रश्नोपनिषद् ३।९)

अर्थात्—"लोक-प्रसिद्ध [आदित्यरूप] तेज ही उदान है। अतः जिसका तेज [शारीरिक ऊष्मा] शान्त हो जाता है वह मन में लीन हुई इन्द्रियों के सहित पुनर्जन्म को [अथवा पुनर्जन्म के हेतु-भूत मृत्यु को] प्राप्त हो जाता है।"

जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति माँहि. तीन जीव के रूप ।
विश्वात्मा, तेजस पुनः, प्राज्ञात्मा सत्रूप ॥३॥
तैसइ तीन समष्टि माँहि, आत्म-मूल जेहि ईश ।
प्रथम विराट अरु पुनि कहइ, हिरण्यगर्भ, जगदीश ॥४॥
कृष्ण व्यष्टि को छांड़ि कै, धरो समष्टी रूप ।
गुडाकेश तत्क्षण लख्यो, ब्यापक, ब्रह्मस्वरूप ॥५॥
व्यष्टि भाव जो नर तजइ, राग-द्वेष हट जाय ।
शनैः शनैः मन शुद्ध ह्वै, ईश निकट आ जाय ॥६॥[1]
मन वाणी अरु कर्म माँहि, सत्य-सत्य भर जाय ।
केवल कर संकल्प ही, कार्य सिद्ध ह्वै जाय ॥७॥[2]
ज्यों अगस्त्य-संकल्प सौं, नहुष बन गयो सर्प ।
पावइ ईश्वर भाव तिमि, तज सब मिथ्या दर्प ॥८॥
स्वर्ण रूप जो तेज को, तजै आगि माँहि खोट ।
जीव बढ़ई ढिग ईश के, हटै मलिनता ओट ॥९॥
अन्तर्मुख होवै लखै, सब माँहि दिव्य प्रकाश ।
प्रत्यक् और पराग तँह, इक थल करहिं निवास ॥१०॥
जीव भाव प्रत्यक् कहहिं, ईश्वर भाव पराग ।
करै समन्वय तौ लखहि ब्रह्म; न जँह जग-राग ॥११॥

---

१. भगवान् श्री कृष्णचन्द्र 'गीता' में कहते हैं—

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धचा धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥६।२५॥

अर्थात्—"क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ उपरामता को प्राप्त होवे तथा धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे ।"

२. पतञ्जलि 'योगदर्शन' में लिखा है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । (२ । ३६)

अर्थात्—जब योगी सत्य का पालन करने में पूर्णतया परिपक्व हो जाता है, उस समय वह योगी कर्तव्यपालनरूप क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है । जो कर्म किसी ने नहीं किया है, उसका भी फल उसे प्रदान करने की शक्ति उसमें आ जाती है अर्थात् जिसको जो वरदान, शाप अथवा आशीर्वाद देता है, वह सत्य हो जाता है ।

ईश्वर-भाव

गुण अनन्त कल्याण कौ कोष ईश कहलाय ।
दोष न एकहु जंह बसइ, निर्मल सहज सुभाय ।।१।।
देवी सम्पत हो घनी, आसुरि पूर्ण अभाव ।
भावाभाव विभाग सौं, बनि है ईश्वर-भाव ।।२।।
नर सुषुप्ति महिं अनुभवइ, सुख कछु घड़ी अमोल ।
कारण-मन-इन्द्रिय सकल, रहै निचेष्ट अडोल ।।३।।
अथवा सम्पति आसुरी, रहहिं न उस छन साथ ।
रहित देह अभिमान सौं, जदपि ज्ञान नहीं हाथ ।।४।।
देही महँ अभिमान कौ भाव व्याधि कौ मूल ।
दैवी गुण सम्पन्न ह्वै आसुरि सम्पत भूल ।।५।।[१]
जगत-जलधि महिं दो भंवर, कनक-कामिनी जान ।
तिन्ह सौं उबरै जीव तो जानै भृगू समान ।।६।।

---

१. गीता में दैवी-आसुरी सम्पदाएँ इस प्रकार बताई गई हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचम् द्रोहोनातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ।।
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।। १६।१-४ ।।

अर्थात्—भय का अभाव, अन्तःकरण की स्वच्छता, ध्यान-योग में स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रिय दमन, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, शरीर-अन्तःकरण की सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, अन्तःकरण का उपरामता, निन्दा न करना, सब भूत-प्राणियों में दया, इन्द्रियों का विषयों से संयोग न होना, तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर-भीतर की शुद्धि, शत्रु भाव न होना, पूज्यता के अभिमान का अभाव, यह सब दैवी सम्पदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं ।

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान तथा क्रोध, कठोर वाणी एवं अज्ञान आसुरी सम्पदा को प्राप्त पुरुष के लक्षण हैं ।"

कनक-लोभ वाचक समझ, जड़ माया परतीक।
चेतन माया कामिनी, रचि जो काम अनीक ॥७॥
या माया सौं छूटि है, हो जब ईश समीप।
निबिड़ अंधेरौ जाय किमि जरै न जब लौं दीप ॥८॥
सीता-माया सामने, हनूमान लघु-रूप।
पुनि आज्ञा सौं तासु की, धर्यौ विराट् स्वरूप ॥९॥
माया वश ह्वै ब्रह्म ही, जीव भाव लै ओढ़।
माया कौ वश माँहि करइ, काम-लोभ दै छोड़ ॥१०॥
दैवी गुण संग्रह करै, ईश निकट ह्वै जाय।
भाव ईश को पाइ कै, ब्रह्म सपदि मिल जाय ॥११॥
या क्रम सौं साधक चलै, तजइ देह अभिमान।
होय कृपा गुरु चरण की, मिटै मोह व्यवधान ॥१२॥

अहंकार-त्याग

तज ममता संसार की, बढ़ तू ईश्वर ओर।
स्वयं निकट वो आयगो, बँधो प्रेम की डोर ॥१॥
अहंकार-वश जीव यहि, संचइ पापाचार।
देह-मान छाँड़ै मिलै, निराकार-साकार ॥२॥[1]
मन अन्तर्मुख होय तौ, जलै ज्ञान को दीप।
जीव भाव छन-छन घटै, ईश्वर होय समीप ॥३॥
'तत् त्वं असि' को जानिए, यह रहस्य अति गूढ़।
आतम माँहि जो नहिं लखै ब्रह्मभाव सो मूढ़ ॥४॥
साधन बिनु किमि जागि है, सोवत जीव अजान।
माया-निद्रा जो तजै, ताहि मिलहिं भगवान ॥५॥
कृष्ण स्वयं को कहि रह्यौ, जगत-पिता अरु मातु।
अहं भाव तिस पै कबहुँ, तहाँ न नैकु छुआत ॥६॥

---

१. श्रीमद्भावत् में लिखा है—

"जब सूर्य से प्रकट होने वाला बादल तितर-बितर हो जाता है, तब नेत्र अपने स्वरूप सूर्य का दर्शन करने में समर्थ होते हैं। ठीक वैसे ही, जब जीव के हृदय में जिज्ञासा जगती है, तब आत्मा की उपाधि, अहंकार नष्ट हो जाता है और उसे अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है।" (१२।४।३२)

"भजनु करो मेरो सभी" कहहि कृष्ण भगवान् ।
दुर्वासा के हाथ सौं वाहि सहहि अपमान ।।७।।
बन उदार, गम्भीर औ', पूरन बिनु अभिमान ।
अधम जीव जो चाहि तू परमारथ, कल्यान ।।८।।
माया सत् को ढाँपि कै, मिथ्या सत् दरसाय ।
रंग हीन आकाश ज्यौं, नीला रह्यौ लखाय ।।९।।
माया-वश ह्वै जीव यहि, भूल्यौ माया-कन्त ।
सत् भासै मिथ्या जगत, जाको निश्चय अन्त ।।१०।।
जब अभाव अत्यन्त हो, वस्तु लखिहि तब साँच ।
माया को परभाव यहि, जिमि रज्जू महँ साँप ।।११।।
आतम सौं उत्पन्न द्वय प्रथम कह्यौ मन-प्रान ।
ताते इनको वश करइ, संभव, तज अज्ञान ।।१२।।
मन वश करिबो ह्वै सुगम, कर भगवत को ध्यान ।
यज्ञ, होम, पूजा करै सत्-संगत-सर-न्हान ।।१३।।
दुर्गम जो यह पथ लगै, करै ईश-गुण-गान ।
शुद्ध होय, मन प्राण तौ, माया करै पयान ।।१४।।
मन, इन्द्रिय, अरु प्रान सब, ह्वै सुषुप्ति महिं शाँत ।
आत्म तत्त्व महिं लय समझ; जाग्रत तुरत अशाँत ।।१५।।
माया के आधार सौं, जन्म असत संसार ।
ताही को संकल्प करि, जीव अशाँत अपार ।।१६।।

राग-वैराग्य

राग भोग सौं जीव यहि करै नरक को वास ।
राग-त्याग सौं बढ़ सही, ईस मिलन की आस ।।१।।
राग रोग को मूल है, तातै नाना शूल ।
जीवन बीतै, राग नहिं, मानव भूला मूल ।।२।।
अहंकार को बीज है, अंकुर भोग-विचार ।
पल्लव सुत, परिभव सुमन, शाखा बन गई नार ।।३।।
फल दुर्गति ही जानिए, अन्त नरक में ठाम ।
विष्णु-भक्ति परसा मिलै, काटै तरु, भज राम ।।४।।
जलधि-जगत में जीव यहि, जान जहाज समान ।
वेग वात है राग को, केवट विरति सुजान ।।५।।

चौरासी के फेर में, बाँधै राग भुलाय।
मानव तन सौं मोक्ष तू, पा विरक्ति अपनाय ।।६।।
मन दर्पण मैलो भयो, राग-रेनु के काज।
विरति-वसन सौं पौंछ दै, मिल जावै सरताज ।।७।।
अपर बिरागी चार हैं, लै इनको पहिचान।
वशीकार, एकेन्द्रीय, व्यतीरेक, यतमान ।।८।।[1]

१. 'पतंजलि योगदर्शन' में चित्त की वशीकार नामक अवस्था-विशेष को "अपर-वैराग्य" कहा है:—

"दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य
वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ।।" १-१५

अर्थात्—"देखे हुए और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णा-रहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है, वही वैराग्य है।" वशीकार अवस्था को प्राप्त होने के बाद ही पर-वैराग्य की प्राप्ति होती है। परन्तु, पर-वैराग्य की प्राप्ति में ध्येय के अनुभव में एकाग्र हो जाना, पुरुष और प्रकृति-विषयक विवेक-ज्ञान प्रकट होना, तीनों गुणों और उनके कार्यों में किसी प्रकार की तृष्णा न रहना ही हेतु हैं।

"एकाग्रता-परिणाम" को सूत्रकार बताते हैं:—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ।
चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ।। ३।१२

अर्थात्—"समाधि-परिणाम के बाद फिर जब शान्त होने वाली और उदय होने वाली दोनों हा वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं, तब वह चित्त का एकाग्रता-परिणाम है।" [समाधि-परिणाम में इन दोनों वृत्तियों में भेद होता है और यहाँ अभेद ।] अब विवेक होते ही पुरुष के स्वरूप का ज्ञान होना बताते हैं :—

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ता संकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो ।
भोगः परार्थात्स्वार्थ संयमात्पुरुष ज्ञानम् ।। ३।३५

अर्थात्—बुद्धि (सत्त्व) और पुरुष जोकि सर्वथा भिन्न हैं, [क्योंकि बुद्धि परिणामशील, जड़, भोग्य चंचल है और पुरुष अपरिणामी, चेतन, भोक्ता, और असंग है।] इन दोनों की प्रतीति का जो अभेद है—अविद्या के कारण जो एकता प्रतीति हो रही है, वही भोग्य है। उसमें से परार्थ-प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। अथवा यों समझें—अभेद रूप वृत्ति यद्यपि चित्त का धर्म है, परन्तु पुरुष के लिए है, इस

पहलो जग में देखता, सार असार विचार।
बैरागी यतमान वो, छांड़ै असत विकार ॥९॥
करै विवेचन दोष-गुन, सौ जानै व्यतिरेक।
एकेन्द्रिय नहिं विषय रत, मन तृष्णा अवशेष ॥१०॥
इन्द्रिय-मन तृष्णा रहित, वशीकार सो जान।
समाधिस्थ सविकल्प ह्वै, करै ईस कौ ध्यान ॥११॥
पर बैरागी जानिए, त्रिगुण राग सौं हीन।
लगै समाधी छांड़ि सब, निर्विकल्प आसीन ॥१२॥[1]

कारण परार्थ है और इसी दशा में जो योगरूप वृत्तियों से भिन्न-द्रष्टा-पुरुष के स्वरूप-विषयक वृत्ति होती है, वह पौरुषेय वृत्ति स्वार्थ है, क्योंकि उसका विषय भी पुरुष है और वह है भी उसी के लिए, अतः वह परार्थ नहीं है। इस स्वार्थ वृत्ति में संयम करने से पुरुष को ज्ञान होता है।

और विवेक होने पर क्या होता है? यह बताते हैं :—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥४।२६

अर्थात्—"उस समय योगी का चित्त विवेक में झुका हुआ और कैवल्य के अभिमुख हो जाता है। यानी अज्ञान-अवस्था में साधारण मनुष्यों का चित्त अज्ञान-निमग्न और विषयपरायण रहता है; परन्तु विवेक-ज्ञान का उदय होने पर योगी का चित्त निःसार संसार के विषयों की ओर नहीं जाता, उनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है और कैवल्य के अभिमुख हो जाता है, यानी अपने कारण में विलीन होना आरम्भ कर देता है। चित्त का अपने कारण में विलीन हो जाना और द्रष्टा का स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना—यही कैवल्य है।

१. महर्षि पातंजल 'योग दर्शन' में पर-वैराग्य का लक्षण बताते हैं :—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (१।१६)

अर्थात् पुरुष के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है, वह पर-वैराग्य है। अथवा जब योगी सर्वथा आप्त काम, निष्काम हो जाता है, ऐसी सर्वथा राग-रहित अवस्था को 'पर-वैराग्य' कहते हैं।

'गीता' में भी योगारूढ़ अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है :—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्व संकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥६।४

सुख सुरेश, सम्राट को मिलै अल्प सो जान।
पावै सुख ध्यानी विरत वो सुख सत्य महान ॥१३॥[1]

दमन-दान-दया

तज असत्य की वंचना, करइ सत्य व्यवहार।
निष्प्रपन्च ह्वै नर तरै, यहि समुद्र संसार ॥१॥
काम क्रोध मद लोभ के, गहन भँवर इस बीच।
ईशोपासन जो करै, ताहि सकें नहिं खींच ॥२॥
आत्म-शक्ति संचय करै, करै ईश को ध्यान।
निराकार वश भक्ति के, नराकार भगवान ॥३॥
मलिन-हृदय सौं होय किमि, भगवत् पूजा-प्रेम।
मन-शोधन हित त्रय करै, दान, दया, दम-नेम ॥४॥
दमन करै नर इन्द्रियाँ, देवै काम नसाय।
दान करै निःस्वार्थ ह्वै, विजय लोभ पै पाय ॥५॥[2]

अर्थात्—'जब योगी न तो इन्द्रियों के विषय में और न कर्मों में ही आसक्त होता है, तथा सब प्रकार के संकल्पों का भली-भाँति त्याग कर देता है, तब वह योगारूढ़ कहलाता है।"

१. श्री भर्तृहार "वैराग्यशतक" में लिखते हैं :—

महीं रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता।
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः ॥
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुदितः।
सुखं शान्तःशेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥७३॥

अर्थात्—"वह शान्त मुनि, जिसकी पृथ्वी ही उत्तम शय्या है, भुजा ही विपुल तकिया है, विस्तीर्ण आकाश ही ओढ़ना है, अनुकूल पवन ही पंखा है, चन्द्रमा ही प्रकाशमान दीपक है और जिसकी विरति ही स्त्री है, वह अति ऐश्वर्यवान् राजा के समान सुखपूर्वक सोता है।"

२. 'बृहदारण्यक उपनिषद' के पंचम अध्याय में 'द्वितीय ब्राह्मण' के अन्तर्गत यह कथा आती है—

देव, मनुष्य और असुर—प्रजापति के इन तीन पुत्रों ने पिता प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया। ब्रह्मचर्यवास कर चुकने पर देवों ने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे प्रजापति ने 'द' यह अक्षर कहा और पूछा,

दुग्ध, पुष्प अरु कूप जल, काढ़े पै बढ़ि जाय।
देवै सौ विद्या बढ़ै, दानहु वित्त बढ़ाय ॥६॥
दान करै, धनवान हो, अन्त स्वर्ग महिं जाय।
पुण्यक्षीण पुनि जन्म लै, दानी धनी कहाय ॥७॥
बिमुख दान सौं निर्धनी, मरै नरक महिं बास।
लेश पुण्य सौं जन्म पुनि, पापी, बिधन, निरास ॥८॥
दान-वृत्ति बोली मधुर, देवार्चन निःस्वार्थ।
द्विज-तर्पण, स्वर्गस्थ के चार चिह्न चरितार्थ ॥९॥
कोप भयंकर, कटु वचन, रहै सदा कंगाल।
बैर कुटुम्बिन सौं करै, पड़ै नरक जंजाल ॥१०॥
धन पावै अरु भोग महिं मूरख देइ उड़ाय।
सुकृत-आतमा धर्म कै, कारज देइ लगाय ॥११॥
अन्न-दान सब मँह बड़ो, ता पर विद्या-दान।
करै भ्रष्ट पथ सौं तुरत, विद्या को अभिमान ॥१२॥
दया हृदय महिं आ गई, क्रोध स्वयं जरि जाय।
जिमि वसिष्ठ सौं रुष्ट मुनि विश्वामित्र झुकाय ॥१३॥[1]

'समझ गये, क्या ?' इस पर उन्होंने कहा, 'समझ गये, आपने हमसे 'दमन करो' ऐसा कहा है।' तब प्रजापति ने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये' ॥१॥

फिर प्रजापति से मनुष्यों ने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापति ने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये, क्या ?' मनुष्यों ने कहा, "समझ गये, आपने हमसे 'दान करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापति ने, 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा ॥२॥

फिर प्रजापति से असुरों ने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापति ने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये, क्या ?' असुरों ने कहा, "समझ गये, आपने हमसे 'दया करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापति ने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा। इस प्रजापति के अनुशासन की मेघगर्जनारूपा दैवी वाणी आज भी द-द-द, इस प्रकार घोषणा करती है, भोगप्रधान देवो ! इन्द्रियों का दमन करो, संग्रहप्रधान मनुष्यो ! भोगसामग्री का दान करो, क्रोध-हिंसाप्रधान असुरो ! जीवों पर दया करो। अतः दम, दान और दया—इन तीनों को सीखे ॥३॥

१. वसिष्ठ और विश्वामित्र

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ अपनी तपस्या और धर्मनिष्ठा के कारण परम पूज्य

दुर्जन हारै सुजन सौं, क्षमा-शस्त्र बलवान।
तृण-विहीन, धरती पड़ै, आगि न किछु नुकसान।।१४।।

माने जाते थे। सब लोग 'ब्रह्मर्षि' कहकर उनका आदर करते थे। विश्वामित्र का उनका यह उत्कर्ष तनिक भी अच्छा नहीं लगता था। एक बार वे उन्हें नीचा दिखाने के लिए अपनी सारी सेना और दरबारियों को लेकर उनके आश्रम में जा पहुँचे।

थोड़ी देर ठहरकर जब वे जाने लगे तो वसिष्ठजी ने कहा, "राजन् ! जब आप आये हैं तो यहीं रहकर हमारा आतिथ्य स्वीकार कीजिये।"

यह सुनकर विश्वामित्र उपेक्षा और गर्व से बोले, "वसिष्ठ, आप हमारा सत्कार क्या कर सकेंगे ? हमारे साथ लाखों आदमी हैं और हम लोग राजसी रहन-सहन और भोजन के अभ्यस्त हैं। आपकी इस झोंपड़ी में हमें वे सब सुविधाएँ कहाँ मिल सकेंगी ?"

इस पर वसिष्ठजी ने कहा, "राजन् ! आप ठहरें तो सही। भगवान् ने चाहा तो आप और आपके साथी असन्तुष्ट होकर नहीं लौटेंगे।"

वशिष्ठजी के पास कामधेनु थी, उन्होंने उसी से प्रार्थना की। अतः उसकी कृपा से विश्वामित्र और उनके साथियों को तत्क्षण समस्त राजसी सुविधाएँ प्राप्त हो गईं। यह देखकर विश्वामित्र को बहुत आश्चर्य हुआ। जब उन्हें कामधेनु की बात ज्ञात हुई तो उन्होंने वसिष्ठजी से कामधेनु देने को कहा।

वसिष्ठजी ने उत्तर दिया, "आप जैसे अतिथियों का सत्कार करने के लिए मेरे पास यही एक साधन है। इसलिए यह मैं कैसे दे सकूंगा ?"

"यदि मैं ज़बरदस्ती ले जाऊँ तो ?" विश्वामित्र ने कहा।

"तो भी यह आपको सरलता से प्राप्त नहीं होगी।" वसिष्ठजी का उत्तर था।

इस पर विश्वामित्र ने भयंकर युद्ध किया। इस युद्ध में विश्वामित्र की सारी सेना मारी गई। उन्होंने अपने सारे अस्त्रों का उन पर प्रयोग कर डाला, किन्तु वसिष्ठजी ने अपने सम्मुख जिस ब्रह्म-दण्ड को कर रखा था, उसने उनके सारे अस्त्रों को व्यर्थ कर दिया। अन्त में विश्वामित्र ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया, जिसकी ज्वाला को मुख खोलकर वसिष्ठजी ने ग्रहण कर लिया।

उनकी इस महान् शक्ति को देखकर विश्वामित्र ने कामधेनु की बात

बाहर के सँग-साथ सौं, भीतर होय मलीन।
बाहिज संचय पुण्य हों, अन्तर सुद्ध नवीन।।१५।।

छोड़कर ब्रह्मर्षि बनने का निश्चय किया और इसके लिए उन्होंने इतनी भारी तपस्या की कि सारे संसार में उनके तप की चर्चा होने लगी। ब्रह्माजी ने प्रकट होकर कहा कि, "बोलो, क्या वरदान माँगते हो ?"

विश्वामित्र ने कहा, "मैं चाहता हूँ कि आप मुझे ब्रह्मर्षि स्वीकार करें।"

ब्रह्मा ने कहा, "मुझे तो स्वीकार है। वसिष्ठ की मैं नहीं जानता।"

यह सुनकर विश्वामित्रजी वसिष्ठजी के आश्रम में पहुँचे। उनका स्वागत करते हुए वसिष्ठ ने कहा, "पधारिये राजर्षि !"

स्वयं को राजर्षि सुनकर विश्वामित्र को बहुत क्रोध आया और वे वहाँ से चल दिये। फिर उन्होंने वसिष्ठजी के आश्रम के सामने ही ऐसी भयंकर तपस्या की कि उसके तेज से सारे संसार में हलचल मच गई। इस भारी तपस्या के पश्चात् जब वे पुनः वसिष्ठजी के पास पहुँचे तो उन्होंने फिर 'राजर्षि' कहकर उनका स्वागत किया।

इस बार वे इतने क्रुद्ध हुए कि हाथ में खड्ग लेकर आधी रात के समय वसिष्ठजी की हत्या करने के लिए जा पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वे सोये नहीं हैं, बल्कि अपनी स्त्री अरुन्धती के साथ चाँदनी रात में बैठे हुए कुछ वार्तालाप कर रहे हैं। उन्होंने सोचा कि अवश्य ये लोग मेरी निन्दा कर रहे होंगे। इसलिए छिपकर उनकी बात सुनने लगे।

अरुन्धती कह रही थी, "देखिये नाथ, पूर्णेन्दु की चाँदनी कितनी स्वच्छ मालूम होती है ! इसके लिए कोई उपमा दीजिये।"

वसिष्ठजी ने उत्तर दिया, "यह चाँदनी दूर-दूर तक इस प्रकार फैल रही है, जिस प्रकार विश्वामित्र जी की तपस्या की कीर्ति चारों ओर अपना अमर प्रकाश फैला रही है।"

अरुन्धती ने आश्चर्य से पूछा, "क्या उनकी तपस्या इतनी महान् है ?"

"निस्सन्देह ! ऐसी तपस्या आज तक न किसी ने की है और न भविष्य में कोई कर सकेगा।"

अपनी यह प्रशंसा सुनते ही विश्वामित्रजी खड्ग फेंककर वसिष्ठजी के चरणों में जा गिरे। वसिष्ठजी ने बड़े प्रेम से उन्हें उठाया और बोले, "उठिये ब्रह्मर्षि, उठिये।"

शुद्ध हृदय नर करि सकै, ईश्वर दरसन आप।
ब्रह्म-ज्ञान गुरु सौं मिलै, नासै भव-परिताप ।।१६।।
जगत-जलधि, नर-देह को, जानै नाव समान।
विषय-वासना राग अरु, द्वेष छिद्र सम जान ।।१७।।
जो नौका बूड़ै नहीं लेवे छिद्र भराय।
दुर्लभ देह मनुष्य की, हाथ न पुनि-पुनि आय ।।१८।।
गहरो-बन जग जानियै, मनुज रथिक तू जान।
बुद्धि-सारथी, इंद्रियाँ चंचल अस्व समान ।।१९।।
छमा, धृती की डोर सौं, बस कर इन्द्रिय अस्व।
तौ जग-बन को पायगो, अन्तर, अंत, रहस्य ।।२०।।
दुर्लभ देहि मनुष्य की, ता माँहि पुरुष शरीर।
नर माँहि द्विज, द्विज श्रेष्ठ मँहि, बेद-बिचार-गँभीर ।।२१।।[1]

यह सुनकर विश्वामित्र जी ने कहा, "यदि आप पहले ही ब्रह्मर्षि कह देते तो मैं आज आपकी हत्या करने क्यों आता ?"

वसिष्ठजी ने उत्तर दिया, "तब तक आप ब्रह्मर्षि नहीं थे, क्योंकि आपमें क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष आदि राजसी गुण मौजूद थे। अब आप उन दोषों से मुक्त हैं।"

ब्रह्मर्षि वसिष्ठजी की बात सुनकर विश्वामित्र भी गद्गद हो गये। उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु छलक आये जिनसे हृदय की निर्मलता प्रकट हो रही थी।

इस प्रकार विश्वामित्रजी के भयंकर युद्ध करने पर भी वसिष्ठजी के मन में कभी कोई विद्वेष की भावना नहीं आई और यह उनका क्षमा-भाव ही था, जिसने विश्वामित्रजी के नेत्र खोल दिए और उन्हें तत्त्व का बोध करा दिया।

१. भगवान् शंकराचार्य ने ब्रह्मनिष्ठा का महत्त्व बताते हुए "विवेक चूड़ामणि" में लिखा है—

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता।
तस्माद्वैदिक धर्ममार्गपरता विद्वत्त्वम स्मात्परम्।
आत्मानात्म विवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
मुक्तिर्नो शतकोटिजन्मसुकृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ।।२।।

अर्थात् जीवों को प्रथम तो नर-जन्म ही दुर्लभ है, उससे भी पुरुषत्व, और उससे भी ब्राह्मणत्व का मिलना कठिन है, ब्राह्मण होने से भी वैदिक धर्म का अनुगामी होना और उससे भी विद्वत्ता का होना कठिन है। यह सब कुछ होने पर भी आत्मा और अनात्मा का विवेक, सम्यक् अनुभव, ब्रह्मात्व-भाव में

तिह्न मँहि सो दुर्लभ मिलै, आतम-ज्ञान भंडार।
अनुभूती ह्वै जाहि को, गहन बिबेक बिचार ॥२२॥
जाकी निष्ठा ब्रह्म मँहि, सो अति दुर्लभ जान।
सुद्ध रूप दरसन करै, जीवन को कल्यान ॥२३॥
अस दुर्लभ तन पाइ कै, साधन करै न मूढ़।
भक्ति बिना किमि जानिये, ज्ञान रहस अति गूढ़ ॥२४॥[1]

ईश्वर पद की प्राप्ति

ब्रह्म-भाव के लाभ सौं, पूर्व प्राप्त कर ईश।
सफल साधना हो तभी, जीव बनै जगदीश ॥१॥
सकल वासना-कामना, तजै मलिनता दोष।
आतम-तृप्ति,-रति हो वही ईश-भाव को कोष ॥२॥
राम भजै साँचो हृदय, पद ऊँचो पा जाय।
आत्म-तुष्टि जिस छन बनै, सब कर्तव्य नसाय ॥३॥
फल-इच्छा हू नासि है, राम-रूप भव लीन।
साधक पुरसारथ करै, फल ईश्वर आधीन ॥४॥
जो गुरु, ईसर की कृपा, शुद्ध तत्व पा जाय।
सच्चे साधन के बिना, मूरख बेगि गँवाय ॥५॥
सुद्ध तत्त्व "महतो मही", जग-संकल्प-विहीन।
एक खंड मँहि, कोटि सत, जाके अंड नवीन ॥६॥
चर्म-चक्षु सौं किमि लखै ऐसो तत्त्व महान।
करै आत्म-अनुभूति नर, हरै सकल अज्ञान ॥७॥
एक तत्त्व पुनि-पुनि कह्यो, आतम और परब्रह्म।
बिसरायो बस राग के, सत्गुरु नासै भ्रम ॥८॥

स्थिति और मुक्ति, ये तो करोड़ों जन्मों में किये हुए शुभ कर्मों के परिपाक के बिना प्राप्त हो ही नहीं सकते।

१. भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में ९वें अध्याय के ३३वें श्लोक में कहा है—

"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्वमाम् ॥"

अर्थात् "सुख रहित और क्षणभंगुर इस मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर।"

स्वर्ण माल हो कंठ माँहि, भूल पड़ै, लगि खोज ।
छुअत मणिक पुनि एक ही, मिटै हृदय को बोझ ॥९॥
तिमि गुरु के उपदेश सौं, अथवा बेद सहाय ।
आतम तत्त्व परिचय सुगम साधक को ह्वै जाय ॥१०॥
श्रद्धा मन माँहि हो घनी, तत्त्व निकट आ जाय ।
करि कुतर्क जो मूढ़ जन, हाथ न कछु आ पाय ॥११॥
यहि समुद्र-संसार अति गहरो, आर-न-पार ।
राम नाम नौका चढ़ै अवस होय उद्धार ॥१२॥
सरिता चंचल अरु मलिन, जलधि मिलै सुध होय ।
ईश-उपासन जिव करै, आवागमन न होय ॥१३॥
सागर जिमि गम्भीर अरु, हौवै धीर, उदार ।
सरिता सो गुन पाइ कै, पुनि न प्रवाहित धार ॥१४॥
मिलै ईश माँहि जीव जो, ब्रह्म समीप लखाय ।
देव,शास्त्र, गुरु की कृपा, रहस-बेद प्रकटाय ॥१५॥
सरिता सागर माँहि मिलै, द्वैत भेद मिट जाय ।
दर्शन करि अद्वैत के, जीव मोक्ष पद पाय ॥१६॥

बुद्धि की शुद्धता और त्याग

कर्म करै, बाढ़ै प्रजा, अथवा धन बरसाय ।
बिना त्याग के नर अधम ! ब्रह्म न कभी मिलाय ॥१॥
करै भावना त्याग की, तदपि न पाप नसाय ।
कौन सक्ति जो जीव सौं, बरबस पाप कराय ॥२॥
थूल, सूक्ष्म दो जानियै, पाप वासना मूल ।
थूल तजै, सूक्ष्म रहइ, तासौं होवै भूल ॥३॥
सूक्ष्म वासना त्याग कै, हो संकल्प-विहीन ।
जानइ साँचो त्याग तब, इच्छा रहहिं न तीन ॥४॥
त्याग जगत की आस जो, साधक ले संन्यास ।
सफल न ताही जानिये, जदि काऊ को त्रास ॥५॥
पर पीड़न के बाद जदि, मिलइ सिद्धि सो ब्यर्थ ।
भीतर रंग न त्याग को, बाह्य रंग किस अर्थ ? ॥६॥
बाह्य-वस्तु कौ त्याग तौ, साँचो त्याग न होय ।
त्यागी वाको जानिये, मन सगर्व जनि होय ॥७॥

घर, घरनी, धन छाड़ि दै, तज दै राज-समाज ।
तऊ न बैरागी बनै, मन अभिमानी साज ।।८।।[1]

---

१. शिखिध्वज का अहंकार-त्याग

"यह शिखिध्वज आपको अभिवादन करता है।" मन्दराचल की एकान्त शान्त गुफा में देवताओं के निमित्त पुष्प चयन करके माला गुम्फन करते हुए तपस्वी ने एक गौरवर्ण तरुण तेजोमूर्ति ब्राह्मण को देखकर अभ्युत्थान दिया। अर्घ्य, पाद्य के अनन्तर पुष्पमाल्य अथिति को पाकर सार्थक हो गया। ब्राह्मण आसनासीन हुए।

"तुम्हारा यह क्षीण काय, ये जटाएँ, यह कठिन तपस्या और यह विस्तृत कर्मजाल किसलिए है ?" परिचय में ब्राह्मण ने अपने को कुम्भ ऋषि बतलाया था और राजा से तपःकुशल का शिष्टाचार समाप्त हो चुका था।

"तुमने मेरा अत्यन्त सत्कार किया है। मैं प्रसन्न हूँ। तप संन्यासी और वानप्रस्थी के लिए उपयुक्त है और तुम तरुण हो। यह विधर्म तुमने किस उद्देश्य से स्वीकार किया ? सुख और दुःख तो मन के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं। तुम्हारे राज्यसुख छोड़ने और तपः कष्ट उठाने का आत्मा से क्या सम्बन्ध ? यदि तुम्हें मोक्ष अभीष्ट है, तो तुम्हें आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। मिथ्या अज्ञानावरण को दूर करो। तुम्हारी पत्नी चूड़ाला ने तुम्हें ठीक ही उपदेश किया था। उसका अनादर करके जब तुम वन में ही आ गए तो फिर यहाँ भी तुमने सर्वस्व-त्याग की पूर्णप्राप्ति क्यों नहीं की ? धन, पुत्र, स्त्री-राज्यादि तो किसी के हैं नहीं। तात्त्विक दृष्टि से तो सर्वेश्वर के हैं। उनका त्याग, त्याग नहीं है।" यह समझाते हुए ब्राह्मण कुमार को देर नहीं लगी। राजा ने आसन छोड़ा और उठ खड़े हुए। "मैं अब कहीं भी पड़ा रहूँगा। मेरी कोई गुफा नहीं, कोई आश्रम नहीं।" उन्होंने आसन, मृगछाला और कमण्डलु आदि भी छोड़ दिया।

"अभी बहुत कुछ छोड़ना है।" ब्राह्मण कुमार मुस्कराए।

"हाँ," राजा ने सोचा। पाठ की पुस्तक, जप की माला उन्होंने छोड़ दी एक शिला पर।

"अभी भी—"

नरेश ने जल उठाया और संकल्प किया—"मैं अपनी समस्त तपस्या, जप पूजादि का फल त्याग करता हूँ।"

"अभी और।"

सकल वस्तु संसार की, क्षण-भंगुर सविनाश।
चीन्है आतम तत्त्व सत, कटै कठिन यम पाश।।६।।

राजा ने कुछ सोचा और एक शिखा पर जा खड़े हुए। वे कूदना ही चाहते थे कि विप्र कुमार ने पीछे से पकड़ लिया। "तुम समझते हो कि शरीर-त्याग से ही सब कुछ हो जायगा ?" तनिक स्वर कठोर था—"आत्महत्या का पाप और मिलेगा। शरीर तो दूसरा धारण करना ही होगा। जो शरीर को क्रियाशक्ति देता है, जो सारे संस्कारों को सम्हाले है, जो शरीर दिया करता है, उस अहंकार का त्याग तुम क्यों नहीं करते ?—"मैं कर्ता हूँ, मैंने किया है, मैं त्याग करूँगा, यह क्या सत्य है ?" आत्मा तो साक्षी है, अकर्ता है। तुम इस अहंकार का त्याग किये बिना पूर्ण त्यागी कैसे बनोगे ?"

तपस्वी ने शिखिध्वज का अन्तःकरण शुद्ध कर दिया था। **मल** नष्ट हो गया था। फल त्याग के संकल्प ने **विक्षेप** का शमन कर दिया था। इन बोध-वाक्यों ने सहसा **आवरण** पर आघात किया। वह दूर हो गया। राजा ने चाहा कि अपने ज्ञानदाता के पैरों पर सिर रख दे। यह क्या ? उनके ही पैरों पर सिर रखे, यह कौन है ? विप्रकुमार कहाँ गए ? "प्रभो ! आप यह क्या कर रहे हैं ? मैं तो आपकी दासी हूँ।' उनकी पत्नी चूड़ाला मन्दस्मिति से गुहा के द्वारदेश पर किसी देवी के समान जान पड़ती थीं।

× × ×

सौराष्ट्र राजकन्या चूड़ाला जितनी ही सुन्दर थी, उतनी ही नृत्य-संगीतादि ललित कलाओं में निपुण थी। शील और प्रतिभा उसे जन्म से ही प्राप्त थी। उज्जयिनी के महाराज शिखिध्वज के समान शूर, सुन्दर, सदाचारी एवं प्रतापी नरेश द्वारा उसका पाणिग्रहण हुआ। दम्पती ने अपने हृदयों के साथ सद्गुणों का भी आदान-प्रदान किया और फलतः चूड़ाला धर्मशास्त्र एवं नीति में तथा महाराजा ललित कलाओं में भी प्रवीण हो गए। यदि धर्मपूर्वक अर्थ और काम का सेवन हो तो धर्म स्वतः इनसे विरिक्त उत्पन्न करके मानव को उसके परम लक्ष्य की ओर प्रेरित कर देता है। चूड़ाला की प्रतिभा पति से धर्मशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके पुष्ट हो गई। अब उसमें जिज्ञासा उठी, 'मैं कौन हूँ, संसार में क्यों आई हूँ, यहाँ आने का उद्देश्य क्या है ?'

जिज्ञासा ने हृदयभूमि में मनन का बीज डाला। सदाचार-शुद्ध हृदय में वह बढ़ चला। निरन्तर मनन ने स्पष्ट कर दिया कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण, बुद्धि तथा अहं भी अपना स्वरूप नहीं। अन्ततः जो सबसे परे है, सबका बाध होने पर उपलब्ध स्वरूप में स्थिति तो होनी ही थी। परम तत्त्व की उपलब्धि

करै दान तप अर्चना, तीरथ संत-समाज ।
जब लौं भाव सकाम उर, आवै नहिं कछु काज ।।१०।।
रहवैं सुख में नर सबै, मुदित प्रसन्न असोक ।
त्यागी दुख में भी सदा मानै मोद, न सोक ।।११।।

के पश्चात् चूड़ाला ने चाहा कि पति को भी वह इस निःश्रेयस् स्थिति का साक्षात् करादे। महाराज के हृदय में अब भी वासनाओं के बीज थे, संस्कार थे। पत्नी का बार-बार का प्रेमोपदेश भी उन्हें मार्ग पर लाने में समर्थ न हुआ। वे चूड़ाला के शील-सौन्दर्य पर मुग्ध थे, अन्ततः चूड़ाला ने सोचा—धर्मयुक्त भोग में लिप्त रहने का फल है, वैराग्य और आरम्भिक वैराग्य विचारहीन होता है। महाराज को ऐसा वैराग्य अवश्य होगा और तब वे चुपचाप जंगल में चले जायँगे। वहाँ काय-क्लेश प्रधान तप करेंगे। इससे कोई लाभ होगा नहीं। ऐसा अवसर आने पर उन्हें उचित मार्ग पर लाने के लिए उसने साधन प्रारम्भ किया और आकाश-मार्ग से गमन की सिद्धि भी प्राप्त की।

अन्ततः महाराज को भोगों से वैराग्य हुआ। उन्होंने वन में जाकर तप करने का निश्चय किया। चूड़ाला ने समझाया, 'प्रत्येक कार्य यथा अवसर ही उपयुक्त होता है। आप गृहस्थ हैं। आपके लिए वनवास विधर्म है।"

लाभ कुछ नहीं हुआ। महाराज एक रात्रि को चुपचाप उठे और वन में चले गए। चूड़ाला के लिए महाराज का पता लगा लेना कठिन नहीं था, पर उनसे परिचय करना व्यर्थ था। समय की प्रतीक्षा करनी थी। उसने राज्य-कार्य सम्हाला और अठारह वर्ष तक उसे चलाती रही।

× × ×

आप विरक्त होकर चले आए थे। आपका चित्त इस स्थिति में नहीं था कि आप स्वस्थ विचार करें। तपस्या ने जब हृदय के मल को नष्ट कर दिया तो दासी ने सेवा में उपस्थित होने का अवसर पाया।" चूड़ाला के नेत्र आनन्दाश्रु से भरे थे।

"अब क्या इच्छा है ?" महाराज ने पूछा।

"वन में मेरे साथ रहना हो तो मुझे आपत्ति नहीं। मेरी तपस्या आपको मेरे साथ इसी शरीर में स्वर्ग में भी रखने में समर्थ है।"

"मुझे भोग आकर्षित नहीं करते। स्वर्ग का मुझे क्या करना है।" चूड़ाला का आनन्द आज सीमातीत था। तपस्या से कुछ प्राप्त करना नहीं है। राज्य प्रारब्धवश स्वतः प्राप्त है। प्रजा-पालन का कर्तव्य आपको कर्म-विधान से मिला है। उसको आप क्यों अस्वीकार करें ?"

बाहर-भीतर सुद्ध हो, आत्म तत्त्व लै जान।
काई हटै तलाब की, नीर सुद्ध पहचान ।।१२।।
मलिन वस्त्र किमि स्वच्छ हो, धोवै मैले नीर ?
मिटै मलिनता जदि धुलै, सुद्ध गंग के तीर ।।१३।।
मलिन बुद्धि की सुद्धता, हेतु तजै जग-भोग।
राम-भक्ति-सर न्हाइ तौ, नासै सब भव-रोग ।।१४।।
बिना बुद्धि के आत्म-बल, काम न किछु आ पाय।
निबल शशक सद्बुद्धि सौं, सबल सिंह खा जाय ।।१५।।[1]
ऊँची बुद्धी ही भली, भलौ न पर अभिमान।
अभिमानी नीचे गिरै, कबहु न हो उत्थान ।।१६।।
सुद्ध आत्म ही जानिए, उद्भव-मन अरु बुद्धि।
संग जगत के जब मिलै, आई तुरत अशुद्धि ।।१७।।
बालक कै दृष्टान्त सौं, समझइ सो सिद्धान्त।
संग छाँड़ संसार कै, सुद्ध, बुद्ध ह्वै शान्त ।।१८।।
हाथी बनो दिवार पै, हाथी ही कहलाय।
जदपि अंग दीवार को, भिन्नहि तदपि लखाय ।।१९।।

चूड़ाला पति के साथ राजधानी लौट आई। आत्मदर्शन-सम्पन्ना पत्नी ने पति की इस स्थिति में भी सहधर्मिणी के कर्त्तव्य को पूर्ण किया। पर्याप्त समय तक दम्पती ने राज्य का संचालन किया। अन्त में उन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त कर ही लिया था।

महाराज ने प्रसन्न होकर चूड़ाला को आशीर्वाद दिया था—"तुम विश्व की श्रेष्ठ सतियों में सदा सम्मानित होओगी।" ("कल्याण" से साभार)

१. एक वनराज प्रतिदिन एक पशु खाता था। हर घर से बारी-बारी एक पशु उसके पास भेजा जाता था। एक बार एक खरगोश की बारी आ गई। वह देरी से वनराज के पास पहुँचा। क्रुद्ध सिंह से डरे बिना यह बोला—"महाराज, वन में एक और सिंह आ गया है। वह मेरा मार्ग रोककर बोला—'राजा तो मैं हूँ तू कहाँ जाता है।' " उत्तेजित सिंह ने कहा—"हमें उस मूर्ख को दिखाओ। पहले उसका ही काम तमाम करें।" खरगोश उसे जंगल में एक कुएँ पर ले गया और बोला—"महाराज ! आपके डर से वह कुएँ में छिप गया है।" सिंह ने कुएँ में झाँका और अपने प्रतिविम्ब पर ही रुष्ट होकर छलाँग मार दी। फलस्वरूप वह स्वयं मर गया।

तिमि सब माँहि वह ब्रह्म ही, भिन्न उपाधी संग ।
सुद्ध बुद्धि अरु त्याग सौं, लख अभिन्न, निःसंग ।।२०।।

माया : मिथ्या और अनादि

सकल सृष्टि को बीज यहि, कारन-ईश महान् ।
होवै अंकुर बीज सौं, बीज शक्ति की खान ।।१।।
बिना शक्ति किमि ऊपजै, अंकुर, वृक्ष विशाल ।
जग-कारण परमातमा, माया-शक्ति कमाल ।।२।।
चेतन कै परभाव सौं, माया बनी प्रधान ।
जड़ लोहा ज्यों खिचि चलै चुम्बक करै लुभान ।।३।।
पौराणिक सिद्धान्त यहि, विधि संसार रचाय ।
पालै विष्णु और शिव प्रलय-काल बिनसाय ।।४।।
आत्म-बीज की शक्ति को माया बेद बताय ।
माया-राजस गुण मिलै, भव, भव देहि बनाय ।।५।।
सात्त्विक गुण माया मिले, पालै हरि संसार ।[1]
तामस गुण परभाव सौं मृड कर प्रलय उजार ।।६।।[2]
गुणातीत ह्वै शिव यही ब्रह्म पूर्ण कहलाय ।
यही जानिबे जोग है, यहि को मनन कराय ।।७।।

१. सत्त्वशुद्धय विशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
माया विबोवशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ।।
(पंचदशी १।१६)

सत्व की शुद्धि से प्रकृति को 'माया' और अशुद्धि से अविद्या मान लिया जाता है। माया में पड़ा हुआ बिम्ब उस माया को वश में कर रहा है, इसी कारण वह सर्वज्ञ ईश्वर बना बैठा है।

२. "श्वेताश्वतरोपनिषद्" में यह प्रसंग आता है कि जगत के कारण की मीमांसा करने वाले कुछे ब्रह्मवादियों ने ध्यान द्वारा यह निश्चय किया कि—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् ।
देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढ़ाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ।।१-३

सत, रज, तम को जानिए, माया के गुण त्रय।
ज्ञानी तीनों बस करै, बिचरै ह्वै निरभय ॥८॥
माया के गुन ओढ़ि यहि, ब्रह्म भयौ है जीव।
गुणातीत ज्ञानी बनै, पहुँचे निरगुन सीव ॥९॥
आतम दर्शन जो चहै, माया देइ निवार।
मारग कर्म पुनीत अरु, भगति बिवेक विचार ॥१०॥
ब्रह्मवाद के बाद ही ईश्वरवाद विधान।
पीछे मायावाद है, पुनि व्युत्पत्ति प्रधान ॥११॥
भिन्न नहीं यहि ब्रह्म सौं माया गुरू बताय।
पुनि अभिन्न भी नहिं रहै, जथा स्वप्न दरसाय ॥१२॥
सत्य नहीं, पुनि असत् भी कहते नहीं बनाय।
अवयववाली भी नहीं, बिन अवयव न कहाय ॥१३॥
अनिवार्च्य यों जानिए माया तत्त्व अनादि।
पुनि अवाच्य को मानिए, मिथ्या, झूठा बादि ॥१४॥[1]

अर्थात्—"उन्होंने ध्यानयोग का अनुवर्तन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया; जो परमात्मा कि अकेले ही काल से लेकर आत्मा पर्यन्त समस्त कारणों के अधिष्ठान हैं।" यहाँ "स्वगुणैर्निगूढ़ाम्" "अपने गुणों से आच्छादित" का यही आशय है कि सत्त्व, रज और तम से युक्त। सत्त्वादि गुण रूप उपाधि के कारण ही वह सत्त्व से विष्णु, रज से ब्रह्म और तम से महादेव कहा जाता है।

'विष्णु पुराण' में भी ऐसा ही कहा गया है—

"सर्गस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्यिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥"

(विष्णु पु० १।२।६६)

अर्थात्—"वह एक ही भगवान् जनार्दन उत्पत्ति, स्थिति और संहार-कारिणी ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप संज्ञाओं को प्राप्त हो जाता है।"

१. "विवेक चूड़ामणि" में माया का निरूपण करते हुए श्री शंकराचार्य भगवान् ने कहा है—

सन्ना प्यसन्नाप्युभयात्मिका नो।
भिन्नाप्य भिन्नाप्युभयात्मिका नो॥
सांगाप्यनंगा प्युभयात्मिका नो।

निर्विशेष ही ब्रह्म है, माया बिन परिपूर्ण ।
वाकौ चिन्तन नहिं करै, जानै जन्म अपूर्ण ॥१५॥
चिन्तन होवै तब सफल, आत्म-शुद्धि जब होय ।
राग, द्वेष, मात्सर्य सौं जन्म सहस ही खोय ॥१६॥
बेद नियम सौं जदि पढ़ै, कर्म करइ निःकाम ।
त्यागै इच्छा भोग की, बेगि मिलै फिर राम ॥१७॥
पाप कर्म के कारणे, जीव अधम गति पाय ।
पाप-पुञ्ज सौं मुक्त ह्वै, भगवत् नाम जपाय ॥१८॥
कर कुटुम्ब की भावना जग में राग हटाय ।
ब्रह्म-दरस ह्वै तब सुगम रघुवर-भक्ति दृढ़ाय ॥१९॥

भावना

कारन भिन्न न कार्य सौं, दीन्हों गुरू बताय ।
ब्रह्म-जीव तिमि एक हैं, कल्पित भेद लखाय ॥ १ ॥
सुद्ध भावना मन करे, देव, ईश, ऋषि होय ।
उच्च भावना-बल बढ़ै जीव ब्रह्म सम होय ॥ २ ॥
हीन भावना जो करै, करि है पापाचार ।
जीव अधम सौं अधम ह्वै, जन्मै बारम्बार ॥ ३ ॥
सुद्ध भावना तब बनै, भीतर निर्मल होय ।
तासौं पहिले जीव तू, बाहिर के मल धोय ॥ ४ ॥
मन बलात् किमि कर सकै, भगवत् पूजा-ध्यान ?
विषय-वासना सौं ढक्यो, खंग ढकी ज्यों म्यान ॥ ५ ॥
सदाचार पालन करै, बाह्य सुद्ध हो जाय ।
अन्तर निर्मल जब बनै, जन्म सुफल हो जाय ॥ ६ ॥
ब्रह्म दिव्य परिपूर्ण है, बेदन दियो बताय ।
कर्म, उपासन, ज्ञान बिनु, कबहुँ न दरस दिखाय ॥७॥

वह न सत् है, न असत् है और न सद्सत्, (उभयरूप) है । न भिन्न है और न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न (उभयरूप) है, न अंग सहित है और न (सांगानंग) उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूप, जो कही न जा सके, ऐसी प्रसिद्ध है ।

चार वर्ण कै कर्म सब, गीता कियो प्रकास।
छाँड़ि धर्म तू आपनो, पास बुलावै नास ।।८।।[1]
बेद विहित आचार सौं, आत्म सुद्ध ह्वै जाय।
पापाचार निवृत्ति हो, परमपिता मिल जाय ।।९।।
सुद्ध भावना सौं हटैं जगत-बिषय बलवान।
जिन्ह महिं फँस करि आत्मा, बनो अधम अति म्लान ।।१०।।
आत्म सुद्ध ह्वै जीव जब, ईश निकट आ जाय।
वही परागति जानियै, सीमा अन्तिम आय ।।११।।[2]

---

१. गीता के १८ वें अध्याय के श्लोक ४२, ४३, ४४ में भगवान् बताते हैं :—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।४३।।
कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

अर्थात्—अन्तःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर-भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहन करना, क्षमाभाव, मन-इन्द्रियों और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्राविषयक ज्ञान और परमात्व-तत्त्व का अनुभव ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्मों में शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान और स्वामी भाव आते हैं। वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं—खेती, गौ-पालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य-व्यवहार। और सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का स्वाभाविक कर्म है।

२. परब्रह्म को परमगति या चरमसीमा बताते हुए श्रुति कहती है:—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।।
(कठोपनिषद १।३।११)

अर्थात्—महत् से भी परे यानी सूक्ष्मतर प्रत्यागात्मस्वरूप और सबसे महान् अव्यक्त है, जो सम्पूर्ण जगत् का बीजभूत, अव्यक्त नाम-रूपों का सत्ता-स्वरूप, सम्पूर्ण कार्य-कारण शक्ति का संघात; अव्यक्त, अव्याकृत और आकाशादि नामों से निर्दिष्ट होनेवाला तथा वट के दाने में रहने वाली वट-वृक्ष की

बेद पराकाष्ठा कही, आतम ब्रह्म जब होय।
जेहि जाने सब जानइ, भेद जाय तब खोय ॥१२॥

सब में एक ईश तत्व

ब्रह्म जानिबे सौं प्रथम, ईश तत्त्व पहिचान।
ताको दरसन तब मिलै, होय बुद्धि अम्लान ॥१॥
सुद्ध बुद्धि तब जानिए, मन जब होय प्रशान्त।
राग, द्वेष, मद, मल मिटैं, द्वन्द्व होय जब शान्त ॥२॥
ईशभाव की प्राप्ति माँहि, बाधा यहि सब दोष।
इनहि जीत पद अभय पा, मिलै ज्ञान को कोष ॥३॥
योगी मानहि भय बड़ो, "मेरो होय अभाव"।
अभय हुए पै आतमा, गहहि विराट प्रभाव ॥४।

शक्ति के समान परमात्मा में ओतप्रोत भाव से आश्रित है, उस अव्यक्त की अपेक्षा सम्पूर्ण कारणों का कारण तथा प्रत्यागात्म रूप होने से पुरुष पर अर्थात् सूक्ष्मतर एवं महान् है। इसीलिये वह सब में पूरित रहने के कारण पुरुष कहा जाता है। पुरुष से पर और कुछ नहीं है। इसीलिए वह सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्त्व की पराकाष्ठा या पर्यवसान है। इन्द्रियों से लेकर इस आत्मा में ही सूक्ष्मत्वादि की परिसमाप्ति होती है। अतः यही गमन करने वाले अर्थात् सम्पूर्ण गतियों वाले संसारियों की पर—उत्कृष्ट गति है। जैसा कि गीता के—

"अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥" ८।२१

और—

"न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥"१५।६

(अर्थात्—"जो वह अव्यक्त अक्षर ऐसे कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्त भाव को परम गति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं, वही मेरा परम धाम है।" और "उस स्वयं प्रकाशमय परमपद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसार में नहीं आते हैं वही मेरा परमधाम है।) श्लोकों से भी सिद्ध होता है।

सरिता सागर माँहि समा, होवइ सागर रूप।
जीव ब्रह्म को पाइ कै, होवइ ब्रह्म स्वरूप ॥५॥
याहि दशा सौं पूर्व तू, सब माँहि देखइ ईश।
सुद्ध बुद्धि जैहि छन मिलै, सबहि रूप जगदीश ॥६॥[1]
देख भाव पृथकत्व सौं, अथवा रख एकत्व।
यत्र-तत्र-सर्वत्र ही, लखहि आत्म सुध तत्त्व ॥७॥
निज के जीवन-काल माँहि, भिन्न रूप दरसायं।
बालक, बूढ़ा, अरु पिता, भाई कभी कहायं ॥८॥
पर "मैं" सब माँहि एक ही, देखौ तनिक विचार।
देस-काल के भेद सौं, भिन्न रूप विस्तार ॥९॥
तैसइ सब माँहि एक ही आत्म तत्त्व तू जान।
याहि भाव के दृढ़ भए, होवै ईश समान ॥१०॥
ईश भाव यों पाइ कै, ब्रह्म समीप लखाय।
असत जगत सौं मुक्त ह्वै, आवागमन छुड़ाय ॥११॥

विराट स्वरूप

सूक्ष्म सृष्टि ह्वै बीज सौं, पुनि अंकुर अरु वृक्ष।
माया के सँग ईश ह्वै बीज, ब्रह्म प्रत्यक्ष ॥१॥
सूक्ष्म सृष्टि को जनक ही, ईश करै संकल्प।
तब उपजहिं ब्रह्माण्ड सत, ब्रह्मा अरु पुनि कल्प ॥२॥
हिरण्यगर्भ, प्राज्ञात्मा, अरु विराट को जान।
थूल, सूक्ष्म, कारण जगत, तीनि करहिं अभिमान ॥३॥

---

१. 'ईशावास्योपनिषद' में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

अर्थात्—"जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को परमात्मा में ही निरन्तर देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को ही देखता है; वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता।" कुछ विद्वान इसका यह अर्थ भी करते हैं—"जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को अपने आत्मा से पृथक् नहीं देखता और उन प्राणियों के आत्मा को अपना ही आत्मा जानता है, वह सम्पूर्ण भूत प्राणियों में अपने आत्मस्वरूप को देखने वाला पुरुष किसी से भी घृणा नहीं करता।"

एक तत्व पर ब्रह्म है, तीनि काल महँ सुद्ध।
माया लै संसृति रचै, जानहिं रहस प्रबुद्ध ॥४॥
ब्रह्म सूक्ष्म अति सूक्ष्म है, जान विराट स्वरूप।
परिचय होवै थूल को, सूक्ष्म सरल हो रूप ॥५॥
अग्निलोक सिर जानिये, तन ब्रह्माण्ड विशाल।
दिशा श्रवण, उर विश्व अरु, नेत्र चन्द्र-रवि लाल ॥६॥
प्राण वायु, वाणी सकल बेद, प्रसिद्ध बखान।
सकल भूमि पद जानियै, सब महँ आतम समान ॥७॥[1]
या स्वरूप को जानिकै, भजहि राम निर्भीक।
राग-द्वेष, मद छाँड़ि तू, तज प्रपंच की लीक ॥८॥
मन निरोध कीन्हे बिना, ईश न आय समीप।
साँस रोक जो जलधि महँ जावै, लावै सीप ॥९॥
मान मृत्यु, गौरव नरक रौरव ही तू जान।
और प्रतिष्ठा भी तजै शूकर-मल सम मान ॥१०॥
यहि प्रकार जग के सकल मन सौं तज संकल्प।
करहि ईश आराधना, देह-काल अति अल्प ॥११॥

सर्वव्यापकता

दिव्य रूप परब्रह्म को पहिले दियो बताय।
पाछे कारण, सूक्ष्म अरु अब विराट् समझाय ॥१॥
कृमि अनेक नर देहि महँ, तन को करहिं न भान।
पुनि गूलर के कीट को, रहहि न दूसर ज्ञान ॥२॥

---

१. द्वितीय मुंडक के प्रथय खंड का चतुर्थ मंत्र है:—
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्चवेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

अर्थात् परब्रह्म के प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जगत्-विराटरूप का वर्णन है। इन विराटस्वरूप परमेश्वर का अग्नि अर्थात् द्यूलोक ही मानो मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं, समस्त दिशाएँ कान हैं, नाना छन्द और ऋचाओं के रूप में विस्तृत चारों वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, सम्पूर्ण चराचर जगत हृदय है, पृथ्वी मानो उनके पैर हैं। यही परब्रह्म परमेश्वर समस्त प्राणियों के अन्तर्यामी परमात्मा हैं।

हैं अनन्त गूलर वहाँ, कीट न जानै और।
तिमि अनेक ब्रह्माण्ड हैं एक ईश सरमोर ॥३॥
जीव मलिन बस वासना, जग महिं पड़ो भुलान।
तरु विराट महिं जीव है गूलर-कीट समान ॥४॥
मस्तक ऊँचो देह महिं, चरन अधम कहँ लोग।
पुनि बिचार सौं एक तन, दृष्टि-भेद को रोग ॥५॥
तिमि समस्त जग-जीव तू ईश रूप ही जान।
माया, जग-संकल्प सौं, भिन्न-भिन्न ह्वै भान ॥६॥
दृष्टि-भेद जब दूर ह्वै राग-द्वेष मिट जाय।
मिटै देह-अभिमानता, ब्रह्म सुलभ ह्वै जाय ॥७॥
सर्प विषैले उर रहहिं, डर हर को नहिं होय।
सीस बिराजै ससि-सुधा, ता महिं राग न होय ॥८॥
मुण्डमाल रहि कण्ठ महिं, शिव न अपावन होय।
पावन धारा गंग की, निर्मल को क्या धोय ॥९॥
राख चिता की तन मलै, घृणा न मन महिं आय।
गौरी के तन परस सौं, नहिं बिकार उपजाय ॥१०॥
स्वस्थ रहहि हर हर दसा, नहि अनात्म महिं लीन।
होवइ दरसन आत्म को, पावइ सुख अबिछीन ॥११॥
मलिन जीव को सुद्धि हित, ईसर ओर लगाय।
खाद अपावन भूमि मिलि, सुद्ध भूमि ह्वै जाय ॥१२॥
मलिन नीर नाला भरो, गंग संग सुध होय।
तैसइ पाइ बिराट कौ जीव सुद्ध बुध होय ॥१३॥

तप : मोह-निवृत्ति

जान स्वरूप विराट को, वाही लक्ष बनाय।
बीते जन्म अनन्त ही, यह लौ नहीं गंवाय ॥१॥
मूल रूप परब्रह्म है, पूर्ण सच्चिदानन्द।
जीव उपाधी संग ही भूल पाय दुख मन्द ॥२॥
बढ़ै पूर्ण की ओर ही, तपबल करै सहाय।
मन-इन्द्रिय को बस करइ, तप उत्कृष्ट बताय ॥३॥

मोह आक्रमण नहिं करै, सहजइ मन रुक जाय।
भक्ति, ज्ञान, वैराग्य अरु सत्य बिबेक दृढ़ाय ।।४।।
चारों साधन मोक्ष के सफल हुए तब जान।
मन-निर्मल आदर्श को, मोह करै नहिं म्लान ।।५।।
भूला मूल स्वरूप नर, क्या-क्या करहि न पाप ?
विषय वासना रत भयो, किमि हो फिर हरि जाप ।।६।।
जाना चाहै आतमा, मोह देइ तू छोड़।
जग सौं बंधन तोड़ कै, जगदीश्वर सौं जोड़ ।।७।।
मोह कढ़ाया विषमतर औंटै मनुज निकाय।
सूरज आगी रैन-दिन, दारु समान जलाय ।।८।।
चतुर सुआरा काल है, पकै स्वयं खा जाय।
कहै युधिष्ठिर यक्ष सौं, जग में 'बात' बताय ।।९।।
तरनी डूबै बीच जल एक छिद्र जदि होय।
छेद काम, रागादि बहु, तन की तरनि डुबोय ।।१०।।
घुग्घू न देखै दिवस मा, कागा अंधा रैन।
भयो कामबस नर अधम, खोवै दोनों नैन ।।११।।
तन-तरनी सौं जो तरै, जग को पारावार।
गुरु की ऐसी हो कृपा, मरै न बारम्बार ।।१२।।

अन्तःकरण की शक्ति

वाहि ब्रह्म ही जानियै, सब भूतन को आत्म।
मलिन दृष्टि काहे लखहि, देखहि सदा अनात्म ।।१।।
ऊँची दृष्टि जो करई, गगन एक शशि देख।
सहस सरोवर सहस शशि, नीचे नयना पेख ।।२।।
भिन्न रूप सब जीव महिं, आत्म प्रतिष्ठित एक।
ऊँची दृष्टी सो लखहि, नीची देख अनेक ।।३।।
अन्तर-बाह्य अहार सुध, निर्मल दृष्टि बनाय।
बुद्धि सुद्ध, अन्तःकरण, जीव कुमार्ग बचाय ।।४।।

अन्तःकरण सशक्त हो, ब्रह्म सुलभ हो जाय।
सुद्ध हृदय को जान तू, भगवत् भजन दृढ़ाय ।।५।।[1]
गो-ब्राह्मण या भूत हित झूठ न झूठ कहाइ।
वेद-विहित हिंसा कही व्यास न हिंसा, भाइ ।।६।।
सूक्ष्म विवेचन जो करै ऐसो बुधजन सोय।
ब्रह्म-ज्ञान के मार्ग महिं सहज प्रवृत्ति होय ।।७।।[2]
सार बतायो गुरु यही, सुध अन्तर जदि होय।
मूल ज्ञान घन सत्य चिद्, ब्रह्म न मन सौं खोय ।।८।।
मूल रूप भूलै नहीं, अंतहि पावइ मूल।
विष्ठा अलि जो खाय किमि जान कमल को फूल ।।९।।
"ब्रह्म स्मरण कराइ गुरु," रही पुरातन चाल।
"ब्रह्म कीजिये जीव सौं" कह्यो न एकहु काल ।।१०।।
याहि सत्य को जान लै, मत प्रामद महिं खोय।
नर तन अति दुर्लभ यहीं ब्रह्म साधना होय ।।११।।

---

१. 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञान प्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु
तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।३।१।८

अर्थात् "वह निर्गुण निराकर परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रों से, न वाणी से, और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तप से और कर्मों से भी वह ग्रहण नहीं किया जाता; उस अवयव-रहित परमात्मा को तो विशुद्ध अन्तःकरण वाला साधक, विशुद्ध अन्तःकरण से निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से अनुभव करता है।"

२. सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही ब्रह्म-दर्शन होगा। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।। (१।३।१२)

अर्थात् "सम्पूर्ण भूतों के हृदय में छिपा हुआ यह आत्मा सबको प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह सूक्ष्म बुद्धि वाले महात्मा पुरुषों से तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि द्वारा ही देखा जाता है।"

आत्म-दृष्टि

निराकार परब्रह्म है, निष्प्रपंच अद्वैत।
अरु जानै साकार को, सँग प्रपंच अद्वैत ॥१॥

निज तन माँहि हम देखि हैं, आत्म देह सौं भिन्न।
तदपि मलिन तन सौं घृणा करहिं न होय न खिन्न ॥२॥

प्रपंच संग अद्वैत कौ, यहि शरीर दृष्टान्त।
जेहि माँहि आत्म-दृष्टिवश, खोजहिं सुख अरु शाँति ॥३॥

याहि दृष्टि अद्वैत सौं, लखहिं सकल जग जीव।
घृणा न काहू सौं करइ, निसिदिन सुमरइ पीव ॥४॥[1]

केवल साधन काल माँहि, घिन कुसंग सौं खाय।
घृणा करइ नहिं तब कभी, आत्म-दृष्टि पक जाय ॥५॥

सहचर शिव के भूत हैं, तन मसान की राख।
शोभित माला मुण्ड की, अरु खेलहिं सिर नाग ॥६॥

रूप अमंगल यों सभी, भक्तन मंगल-साज।
आत्म दृष्टि जब पाइए, सब माँहि ईश बिराज ॥७॥

आत्म-दृष्टि माँहि लीन जो, जग नन्दन-उद्यान।
तरु सबही हैं कल्पद्रुम, जल सब गंग-समान ॥८॥

कार्य सकल ही पुण्यमय, अवनी काशीराज।
वाणी जानै उपनिषद, रघुवर निधन-निवाज ॥९॥

आत्म-दृष्टि को सार यहि, जग विराट् को रूप।
प्रथम दरस साकार के, पुनि ह्वै ब्रह्म-स्वरूप ॥१०॥

आत्म शुद्धि साधक करै, बैर भाव बिनसाय।
व्यापक ब्रह्म उपाधि वश, सब माँहि जीव लखाय ॥११॥

---

१. भगवान् श्रीकृष्ण "अद्वैत दृष्टि" का उपदेश कर रहे हैं—

"उद्धवजी, यद्यपि व्यवहार में पुरुष और प्रकृति, दृष्टा और दृश्य के भेद से दो प्रकार का जगत् जान पड़ता है, तथापि परमार्थ दृष्टि से देखने पर यह सब एक अधिष्ठान स्वरूप ही है। इसलिए किसी के शान्त, घोर और मूढ़ स्वभाव तथा उसके अनुसार कर्मों की न स्तुति करनी चाहिए और न निन्दा। सर्वदा अद्वैत-दृष्टि रखनी चाहिए।" (श्रीमद्भागवत् ११।२८।१)

विराट् चिन्तन

नर देही माँहि आतमा, है अंगुष्ठ प्रमाण।
किमि जानै तद्रूप ही, ब्रह्म विराट् महान ? ॥१॥[1]
घटाकाश को जानियै, महाकाश को रूप।
सूरज-चन्दा एक हैं, भिन्न नदी, सर, कूप ॥२॥
गज-तन, नर-तन माँहि वही, एक आत्म तू जान।
किन्तु उपाधी सौं मिलो, ऊँच-नीच कौ ज्ञान ॥३॥
निर्विकार यहि आत्मा, पायौ यों अल्पत्व।
योगी जानै रहस सो, लखहिं सदा एकत्व ॥४॥
रंग-रंग के कुसुम सब, बिकसैं सूर्य प्रकास।
सूरज रंग न किछु चढ़इ, निर्विकार रवि-हास ॥५॥
तैसइ तन चेतन बनो, सत्ता आतम जान।
निर्विकार निष्क्रिय स्वयं, मूल रूप पहिचान ॥६॥
संग उपाधी जो मिलो, त्यागैं छोटाभाव।
चिन्तन करइ विराट् को, जानै ज्ञान प्रभाव ॥७॥
ज्ञानाग्नि जब ही जलै, काष्ठ-कर्म ह्वै राख।
बन्धन काटहि ज्ञान ही, जतन करइ तू लाख ॥८॥[2]

---

१. श्रुति कहती है—

"अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवा धूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥

(कठ० २।१।१३)

अर्थात् वह पुरुष अंगुष्ठमात्र और धूमरहित ज्योति के समान है। वह जो कुछ हुआ है, तथा होने वाला है, सबका शासक है। वही आज है, वही कल भी रहेगा।" और भी—

"यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं सत्वमेव त्वमेव तत् ॥"

(कैवल्य० १।६)

अर्थात्—"जो परब्रह्म सबका आत्मा, विश्व का महान् आयतन, सूक्ष्म से-भी-सूक्ष्मतर और नित्य है; वह तुम्हीं हो; तुम्हीं वह हो।"

२. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥४।३७॥

जीवात्मा कर तू जतन, लय विराट् माँहि होय।
ताही को चिन्तन करइ, सदा मैल-मन धोय ॥९॥
जैसी होवइ भावना अन्तकाल कहि ईश।
तैसी ही गति पाइये, जीव बनइ जगदीश ॥१०॥ [१]
साधक जानइ रहस यहि, कर विराट् को ध्यान।
ब्रह्म रूप हो जीव तब, ध्यान करावहि ज्ञान ॥११॥

सूक्ष्म से विराट्

माटी-जल के संग सौं, बीजहि अंकुर होय।
अंकुर सौं पुनि वृक्ष ह्वै, सूक्ष्म थूल यों होय ॥१॥
बीज माँहि जो शक्ति है, ताहि अतीन्द्रिय जान।
संशय सत्ता पै करहिं, ते मूरख नादान ॥२॥
प्रथम सूक्ष्म, पुनि थूल है, थूल थूलतर होय।
अंतिम जानै थूलतम, बीज-वृक्ष नहिं दोय ॥३॥ [२]

गीता के इस श्लोक में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र बता रहे हैं—

"हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधन को भस्म कर देता है, वैसे ही ज्ञान-रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है।"

१. गीता के आठवें अध्याय के छठे श्लोक में आनन्दकन्द श्री कृष्ण-चन्द्र भगवान् ने यही भाव व्यक्त किया है और श्रुति भगवती भी कहती है—

"यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजोसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति। (प्रश्नोपनिषद् ३-१०)

अर्थात्—"इसका मरणकाल में जैसा चित्त (संकल्प) होता है और उसके सहित यह प्राण को प्राप्त होता है और प्राण तेज से (उदान वृत्ति से) संयुक्त हो (उस भोक्ता को) आत्मा के सहित संकल्प किये हुए लोक को ले जाता है।"

२. 'छान्दोग्य उपनिषद' के छठे अध्याय के १२वें खण्ड में वटबीज का दृष्टान्त देते हुए आरुणि ने श्वेतकेतु को कहा, कि एक बीज को तोड़कर देख उसमें क्या है ? श्वेतकेतु ने बीज को फोड़कर कहा—"इसमें तो कुछ भी नहीं दिखता।" तब पिता आरुणि बोले—"हे सौम्य ! तू इस वटबीज के सूक्ष्म भाग को नहीं देखता। इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व से ही वट का महान् वृक्ष निकलता है। वरन्, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वट के वृक्ष का आधार है, इसी

सूक्ष्म ब्रह्म को जानई, थूलहि कारण रूप।
ईश थूलतर, थूलतम देख विराट् स्वरूप ।।४।।
ब्रह्म जानिबे सौं प्रथम, कर विराट् को ध्यान।
होवै परिचय थूल को, सुगम सूक्ष्म को ज्ञान ।।५।।
माया को संग लै रचै, ईश जगत-जंजाल।
माया कही अनादि, किमि ब्रह्म विशुद्ध विशाल ? ।।६।।
माया के परभाव सौं, जब लौं रहि है दूर।
ब्रह्म सुद्ध ही जानियै, निर्विकार अरु पूर ।।७।।
माया के परभाव सौं, ब्रह्म ईश ह्वै जाय।
पुनि विराट को रूप भी, धारण वही कराय ।।८।।
सत्ता सूक्ष्म तत्त्व की, सदा संग ही जान।
किन्तु तत्त्व वह सुद्ध है, सुद्ध रहहि अम्लान ।।९।।
उष्ण करै जल, भाप ह्वै, पुनि गति देइ बढ़ाय।
आगी इंजन को जथा, धधकइ एक सुभाय ।।१०।।
निर्विकार यहि आतमा, जानइ आगी रूप।
मन या तन माँहि जानिये, इंजन भाप स्वरूप ।।११।।
आवहि सत्ता आत्म की, मन करि है संकल्प।
इन्द्रिय पुनि ह्वै कर्मरत, जनि तू करहि विकल्प ।।१२।।
नाना बिधि चेष्टा करइ, बिनु प्रयास यहि देह।
किमि विराट्-संकल्प माँहि होवइ किछु संदेह ? ।।१३।।
कहहि ईश 'भू', 'स्व', 'भूवः', उपजाँहि तीनिहुँ लोक।
सृष्टी वाकी श्वास सौं, वाही माँहि सब लोक ।।१४।।
चिन्तन करै विराट को, जानै वाको रूप।
साधक मन शोधन करै, आत्म होइ तद्रूप ।।१५।।
तत्त्व जान महतोमही, गावै गुण गांधर्व।
"किमि करिहौं में बंदना, करि न सकहिं सुर सर्व" ।।१६।।
अमृत वाणी बेद की तब श्रीमुख को बोल।
गाऊँ मैं, होवइ गिरा पूत, न मन ह्वै लोल ।।१७।।"

प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत् का आधार है। हे सौम्य ! तू मेरे वचन में श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु ! वह सत् तू ही है—तत्त्वमसि।"

सर्व भूतान्तरात्मा

सकल भूत को आतमा, दियो विराट बताय।
पावै दृष्टि अभेद सो, गुरु किरपा जो पाय ॥१॥
साधक साधन काल महिं, रखिहै किंचित भेद।
सगुण उपासन सौं कटैं, भव संभव सब खेद ॥२॥
नीर पड़ौ हिम खंड जिमि, कालान्तर जल होय।
सरिता मिलहि समुन्द महिं, उदधि रूप, हो खाय ॥३॥
मिलि सजातीय तत्त्व महिं, कल्पित भेद नसाय।
आतम पा परमात्मा, तद्रूपहि ह्वै जाय ॥४॥[1]
साधक त्यागहि कामना, तौ ऐसो हो भाव।
करहि कर्म निष्काम सब, फल को करहि न चाव ॥५॥
करहि भक्ति निष्काम तौ, शुद्ध हृदय हो जाय।
बढ़हि ईश की ओर तू, ईश स्वयं ढिग आय ॥६॥[2]

---

१. 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(३।२।८)

अर्थात्—"जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूप से रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।"

२. भगवान् की प्रतिज्ञा है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। (गीता ४।११)

अर्थात्—"जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।"

और भी—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(८।१४)

अर्थात्—"हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तम को स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगी के लिए मैं सुलभ हूँ, उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।"

नियम बतायो गुरु यही, तीन काल सत् होय।
जेहि वस्तु जहँ सौं प्रकट, अंत लीन तहँ होय ॥७॥
प्रलय काल महिं जिमि लख्यो, मार्कण्डेय मुनिराज।
बालमुकुंदहि के उदर, भव सम्पूर्ण बिराज ॥८॥
प्रकट और लय विश्व यों, वाहि ब्रह्म महिं होय।
व्याप्त अखिल ब्रह्माण्ड महिं, सबको आतम बोय ॥९॥
या रहस्य को जानि कै, भेद भाव को भूल।
जीव अंश तू ईश को, चिदानन्द सत मूल ॥१०॥

आत्म-भाव

ईशोपासन जो करै, करहि मोह को नाश।
राग, द्वेष, मात्सर्य की जड़ एही-गल फांस ॥१॥
शुद्ध होय मन भक्ति सौं, सकल द्वन्द्व मिट जाय।
ता पाछे ह्वै द्वैत महिं, अद्वैतहि को भाय ॥२॥
नष्ट मोह, स्मृति मिलहि, मूल रूप ह्वै भान।[1]
सो होवइ गुरु की कृपा, जनि करि तू अभिमान ॥३॥
गुरु समदरसी भाव सौं, करि है सद् उपदेश।
मन, बुद्धी जो सुद्ध ह्वै, पावहि ज्ञान प्रवेश ॥४॥
जिमि गारे की भीत पै, लखहि न बिंब हमार।
तैसइ अन्तर मलिन पै जरहि न ज्ञान अँगार ॥५॥
ज्ञान-लाभ सौं दिख पडै, आतम शक्ति को पुंज।
सुद्ध तोय मन-सर भरो, खिलहि भक्ति को कुंज ॥६॥

---

१. मोह नष्ट होने पर ही स्मृति प्राप्त होती है। अर्जुन ने भगवान् के सम्मुख स्वीकार किया है:—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(१८।७३)

अर्थात्—"हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति (अनुभूतविषयासंप्रकोषः स्मृतिः पा० योगदर्शन १।११—अनुभव किये हुए विषय का न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना स्मृति है।) प्राप्त हुई है। इसलिए मैं संशयरहित हुआ स्थित हूँ और आपकी आज्ञा पालन करूँगा।"

साधन जेते मोक्ष के, भक्ति सुगमतम जान।
आत्म भाव सब मँहि करै, कर विराट को ध्यान ।।७।।
भक्त अनन्य न मांगहीं, मोक्ष, न पुनि कल्याण।
"जन्म-जन्म तव चरण मँहि, होवहि रति भगवान" ।।८।।
लघु प्रवाह जिमि नीर को, बड़ मिल होइ महान।
तैसइ भक्त अनन्य को, अवस मिलहिं भगवान ।।९।।[१]
धन पावइ जदि लालची, होवइ बहुत प्रसन्न।
'हाँ मँहि हाँ' जदि तू करहि, मूढ़ न ह्वै अप्रसन्न ।।१०।।
पंडित रीझहि सत्य पै, ऐसो नीति बताय।
तुष्ट होइ मन पाइ प्रभु, बंधन देइ छुड़ाय ।।११।।
जग अनित्य दुख सौं भरो, सुख की बिरथा खोज।
शाश्वत सुख तू पायगो, राम भजइ हर रोज ।।१२।।
हरि गुन के अभ्यास सौं, सब मँहि हरिहि लखाय।
जिमि आगी है दारुगत, कबहुँ जतन प्रकटाय ।।१३।।
याज्ञवल्क एही कह्यो, मैत्रेयी समझाय।
"सार औरु सुख रूप वो, आत्म-तत्त्व दरसाय ।।१४।।[२]

---

१. भक्ति नौ प्रकार की होती है। 'श्रीमद्भागवत' में बताया गया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
(७।५।२३)

अर्थात्— "भगवान् विष्णु के नाम, रूप, गुण और प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान् की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान् में दासभाव, सखाभाव और अपने को समर्पण कर देना, यह नौ प्रकार की भक्ति है।

२. 'बृहदारण्यक' उपनिषद् में याज्ञवल्क्यजी मैत्रेयीजी से कह रहे हैं—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।।
(२।४।५)

वाहि जानिबे जोग है, कर वाही को ध्यान"।
आत्म भाव सब माँहि लखहि, एहि प्रेम पहिचान ।।१५।।
अंतहि होइ अभेद इमि, मन तब तजइ विकार।
दरसन हो साकार को, छुटि जइहै संसार ।।१६।।

अक्षर पुरुष से चराचर-उत्पत्ति

सबको कारण रूप जो, पुरुष, पूर्ण परमात्म।
सकल जीव माँहि जानिये, वाही चेतन आत्म ।।१।।
विज्ञाता मन्ता वही, द्रष्टा, श्रोता होय।
पाँच अगनि सौं सब प्रजा पुरुष रचाता वोय ।।२।।
स्वर्ग, मेघ, पृथिवी, पुरुष, पंचम नारी जान।
प्रजा बढ़इ पँचाग्नि सौं, यहि वेदान्त-विधान ।।३।।
आगी उपजहि पुरुष सौं, समिधा जाको सूर्य।
ताही सौं निष्पन्न ह्वै, उपजइ सोम अपूर्व ।।४।।
और सोम सौं मेघ पुनि, औषधि भूमि उगायँ।
औषधि सौं ह्वै वीर्य, नर योषित माँहि सिचायँ ।।५।।
या क्रम ब्राह्मणादि सब, प्रजा बहुत बढ़ जाय।
ज्ञानी जानइ चर-अचर, अक्षर वही उपाय ।।६।।
जैसी होवइ भावना, पावइ जीव शरीर।
अंत काल जो हरि भजइ, ताहि जान तू धीर ।।७।।[1]

अर्थात्— "अरी मैत्रेयी ! सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है। हे मैत्रेयी ! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से उस सबका ज्ञान हो जाता है।"

१. भगवान् श्री कृष्णचन्द्र गीता में स्पष्ट कह रहे हैं—

"यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ।।

(८।६)

अर्थात्—"हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर को त्यागता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह सदा उसी भाव से भावित रहा है।"

पुण्य कर्म जदि तू करइ, शुद्ध भावना होय।
ताको फल गुरु यौं कह्यौ, सद्गति अंतहि होय ।।८।।
बाह्य आचरण सौं बनइ, अन्तर भाव विशुद्ध।
भले संग सौं कर्म शुभ, संगत बुरी अशुद्ध ।।९।।
ताते सत् संगत करइ, हृदय-ग्रन्थि कट जाय।
राग, लोभ, कामादि रिपु, धैर्य-खड्ग बिनसाय ।।१०।।
ब्रह्म समष्टि सौं बन्यो, व्यष्टि जगत यहि जान।
अक्षर पुरुष, विराट अरु, आतम भिन्न नहिं मान ।।११।।[1]
सुद्ध आरसी महिं लखहि, निज को जो प्रतिबिंब।
सत्ता वाकी भिन्न किमि, मूल रूप तन बिंब ।।१२।।
याहि तत्त्व को जानि तू जनि कर जग-संकल्प।
जग महिं बँध जन्मै-मरै, कोटि-कोटि सत कल्प ।।१३।।
राग न ह्वै अनुकूल महिं, जनि प्रतिकूल चिढ़ाय।
ममता तज परिवार की, भीतर स्वजन बनाय ।।१४।।
धैर्य जनक, जननी क्षमा, भार्या शान्ति स्वरूप।
सत् सुत, भगिनी है दया, संयम भाई रूप ।।१५।।
शैय्या भूतल है सुखद, दिशि ही वसन अनूप।
भोजन ज्ञानामृत मिलै, स्वजन विरत तद्रूप ।।१६।।
ऐसो कुनबो जब मिलइ, मन होवइ सुध शान्त।
राम चरन रति हो अडिग, चित्त न हो उद्भ्रान्त ।।१७।।[2]

१. 'कठोपनिषद्' में यमराज नचिकेता के प्रति कहते हैं:—

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ।।

(१।२।१६—१७)

अर्थात्—"यह अक्षर ही तो ब्रह्म है, और अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षर को जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम अवलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस अवलम्बन को भली-भाँति जानकर साधक ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।"

२. इस अन्तर कुटुम्ब का वर्णन करते हुए श्री भर्तृहरि 'वैराग्यशतक' में कहते हैं:—

मन एकाग्र पै होवहि, बेगि आत्म को बोध।[1]
योग सफल सो जानिये ह्वै जब वृत्ति निरोध ।।१८।।[2]

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरङ्गेहिनी।
सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः ।।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम्।
ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्याद्भयं योगिनः ।।

अर्थात्—"हे सखे ! तू ही बता कि जिसका पिता धैर्य है, माता क्षमा है, भार्या शान्ति है, सत्य जिसका मित्र है, दया जिसकी भगिनी है, मन:संयम जिसका भ्राता है, भूमितल जिसकी शय्या है, दिशा जिसके वस्त्र हैं और ज्ञान-रूपी अमृत जिसका भोजन है, ये जिसका परिवार है, उस योगी को किससे भय है ? अर्थात् वह अभय है।"

१. आनन्दघन भगवान् श्री कृष्णचन्द्र कह रहे हैं—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ।। (६।२७)

अर्थात् "जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है [जिसने अस्थिर रहने वाले मन को सांसारिक पदार्थों की ओर से बार-बार रोककर परमात्मा में ही उसका निरोध किया है] जो पाप से रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्द घन ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त हुए योगी को अति उत्तम आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती है।"

और श्रुति भी यही कहती है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति ।।

(कठ० २।१।११)

अर्थात् आचार्य और शास्त्र से संस्कारयुक्त हुए, शुद्ध मन से ही यह तत्त्व प्राप्त करने योग्य है। इस ब्रह्मत्व में नाना अथवा भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं हैं। अर्थात् सब उसी ब्रह्म से परिपूर्ण है। जो पुरुष दूसरे नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता है।

२. पातञ्जल-योगदर्शन में लिखा है—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः। (१।२।।)

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध अर्थात् सर्वथा रुक जाना ही

भोगासक्ति त्यागो

देही के अध्यास सौं, आतम लखहि लघु रूप।
ज्ञानी जानै लघु नहीं, वा विश्वात्म स्वरूप ।।१।।
हीन भावना जीव की, भासै आतम हीन।
जद्यपि तत्व महानतम, जानै सो सुप्रबीन ।।२।।
चितनीय किछु है नहीं, जो हो जावै ज्ञान।
ध्यान विशिष्टहि ज्ञान सौं, पुनि कहिहैं भगवान ।।३।।
मन निर्मल ह्वै ध्यान सौं, ज्ञान-नेत्र खुलि जाय।
आतम सूक्ष्म सौं सूक्ष्म अरु, महतोमही लखाय ।।४।।[1]
पहिले जानइ थूल को, पुनि सूक्षम पहिचान।
अथवा सूक्षम जान कै करहि थूल को भान ।।५।।
विधि दोऊ बेदन कही, जासौं आतम बोध।
प्रथमहि लय-चिंतन बनी, पावहि मनहि निरोध ।।६।।[2]

और गीता में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्ये वावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ।। (६।१८)

अर्थात् "अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस काल में परमात्मा में ही भली प्रकार स्थित हो जाता है (अर्थात् और सब प्रपंच की ओर से चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाने पर ही), उस काल में सम्पूर्ण कामनाओं से स्पृहा-रहित हुआ पुरुष योगयुक्त, ऐसा कहा जाता है।"

१. श्रुति भगवती कहती है—

अणोरणीयान्महतोमहीयानात्मा गुहायं निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद ३।२०)

अर्थात् "वह सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म तथा बड़े से भी बहुत बड़ा परमात्मा इस जीव की हृदय-रूप गुफा में छुपा हुआ है। सबकी रचना करने वाले परमेश्वर की कृपा से जो मनुष्य उस संकल्प-रहित परमेश्वर को और उसकी महिमा को देख लेता है, वह सब प्रकार के दुःखों से रहित होकर आनन्द-स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।"

२. कठोपनिषद के प्रथम अध्याय की तृतीय वल्ली के १३वें मन्त्र में "लय-चिन्तन" का निर्देश इस प्रकार हुआ है—

जानहि पहिलो थूल तन, वासौं सूक्ष्म देह।
सूक्ष्म सौं कारणहि पुनि, अधिष्ठान को ध्येय ।।७।।
अधिष्ठान ही आतमा, जानहि पाइ अभेद।
लय-चिंतन यों सिद्ध ह्वै, मिटहि आत्म-जिव भेद ।।८।।
दूजी बिधि जानहि सबइ, वा विराट को रूप।
वाको चिंतन अहर्निशि, होवइ ब्रह्म-स्वरूप ।।९।।
जानइ आत्म-महानता, वाहि न लघु कर जान।
भोगासक्तिहि नर तजइ, जासौं लघुता भान ।।१०।।[1]
योषिताग्नि महिं वीर्य जदि, करहि न रंच प्रवेश।
तबहि जानिये धीरुजन, भोगासक्तिहि शेष ।।११।।
आतम गहहि न संग इमि, थूल उपाधि शरीर।
बढ़इ न जगत प्रपंच अरु, जनम-मरन की पीर ।।१२।।
दशा मध्यमा दुःख की, हमरी यहि छन दीख।
आत्म न जानहिं सूक्ष्म कर, अरु न महानहि सीख ।।१३।।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।१३।।

अर्थात् विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रिय का (यहाँ वाक्-इन्द्रिय सम्पूर्ण इन्द्रियों का उपलक्षण कराने के लिए है।) मन में उपसंहार करे। मन को प्रकाश-स्वरूप बुद्धि में लय करे। बुद्धि ही मन आदि इन्द्रियों में व्याप्त है, इसलिए वह उनकी आत्मा यानी प्रत्यक् स्वरूप है। उस ज्ञान स्वरूप बुद्धि को प्रथम उत्पन्न हुए महत्तत्व के समान आत्मा में लीन करे अर्थात् उसका स्वच्छ स्वभाव विज्ञान प्राप्त करे और महान् आत्मा को जिसका स्वरूप सम्पूर्ण विशेषों से रहित है और जो अविक्रिय, स्वन्तिर तथा बुद्धि के सम्पूर्ण प्रत्ययों का साक्षी है उस मुख्य आत्मा में लीन करे। यही स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना है।

१. श्री भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में भोगों की निन्दा में कहा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तंवयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ।।

अर्थात् "हमने विषयों का उपभोग नहीं किया, किन्तु विषयों ने ही हमें भोग लिया (हमको असमर्थ कर दिया)। हमने तप नहीं किया, किन्तु तप ने ही हमें तपा दिया। काल व्यतीत नहीं हुआ, किन्तु हम ही व्यतीत हो गए अर्थात् हमारा मरण आ गया और तृष्णा जीर्ण न हुई, किन्तु हम ही जीर्ण हो गए।"

सुखिया दो जन जगत माँहि, नीतिकार बतलाय ।
एक मूढ़ अति दूसरो, पंडित महा कहाय ।।१४।।
रहहि बीच नर पाव सो, जग माँहि दुःख महान ।
लय-चिंतन सौं ऊबरै, पावहि सुखप्रद ज्ञान ।।१५।।
आठ वस्तु उत्तम जगत, धीरवान पहिचान ।
तिनहि जान साधन करहि, जो चाहसि कल्यान ।।१६।।
हिमगिरि उत्तम गिरिन्ह माँहि, सूरज उत्तम काँति ।
सखा पुण्य, सरि गंग है, गुरुअन माँहि है माति ।।१७।।
सीस सुसोभित ससि रहइ, सिव स्वामिन्ह माँहि श्रेष्ठ ।
प्रमुख बैरि अघ जानिये, मंत्रन्ह "ॐ" यथेष्ठ ।।१८।।
अतः न तजइ अनघ सखा, सदा राखिहै संग ।
ध्यावहि ब्रह्म विराट को, जग माँहि रहहि असंग ।।१९।।
मरघट में तो जल रहे शत-शत शव दिन रात ।
पुनि चाहै नर जीवना है विस्मय की बात ।।२०।।
जग अनित्य दुखपूर्ण है, आत्म नित्य सुख रूप ।
वाको ही चिन्तन करइ, हो जावइ तद्रूप ।।२१।।[1]

पुरुष से कर्म और फल की उत्पत्ति

अच्छर सौं उत्पन्न सब चर अरु अचर जहान ।
ताहि व्यवस्था हेतु पुनि, साधन आदि बखान ।।१।।
वाहि पुरुष सौं जानिए, ऋचा, साम, यजु होयँ ।
पुनि दीक्षा, सम्पूर्ण यजु, क्रतु अरु कालहु होयँ ।।२।।

---

१. निराकार निर्विशेष विज्ञानानन्द परमात्मा को एकीभाव से जानकर मनुष्य उसे प्राप्त हो जाता है । श्रुति कहती है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । (बृहदारायण्क० ४।४।६)

अर्थात् "जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है ।"

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

जानइ तुमहि तुमहि हो जाई ।।

वाही सौं यजमान अरु फल स्वरूप ह्वै लोक।
पूत करहिं तिन्ह चन्द्रमा, तापहि रवि आलोक ॥३॥
अंगभूत पुनि कर्म कैं, भए देव बहु जान।
साध्यगननि, नर अरु पसू, पच्छी प्रान-अपान ॥४॥
व्रीहि भए, यव औरु तप, श्रद्धा, सत् ब्रह्मचर्ज।
उपजेहु अच्छय पुरुष सौं, बिधि-निरोधहू सर्ज ॥५॥[1]
साधक या क्रम जान कै, करहि बेद अभ्यास।
पुनि गुरु की पावहिं कृपा, जपै मन्त्र बिस्वास ॥६॥
करइ जाग छोटो-बड़ो, गुरु कौ करहिं निहाल।
सद्गति, सुख जो चाहि नर, मान बेद सब काल ॥७॥
जावहिं संग उपासना, करम, बासना तीन।
जब लौं जीवहि जतन सौं, रहहि बेद मति लीन ॥८॥
बैदिक साधन अति कठिन, संकर[2] मार्ग सुझाय।
बाँचै गीता, हरि भजै, सहसनाम अज गाय ॥९॥

---

१. यहाँ 'मुण्डकोपनिषद्' के प्रथम खण्ड के छठे और सातवें मन्त्र का भावानुवाद है। मन्त्र इस प्रकार हैं—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्चो।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ मुण्डकोपनिषद् २।१।६
तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
पाणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ २।१।७

अर्थात्—"उस पुरुष से ही ऋचाएँ, साम, यजु, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान, लोक और जहाँ तक चन्द्रमा पवित्र करता है तथा सूर्य तपता है, वे लोक उत्पन्न हुए हैं। और उससे ही कर्म के अंगभूत बहुत से देवता उत्पन्न हुए तथा साधारण मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, व्रीहि, यव, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि—ये सब भी उत्पन्न हुए हैं।

२. संकर अर्थात् जगद्गुरु भगवान् शंकराचार्य। आपका उपदेश है, कि यदि वैदिक कर्म कठिन प्रतीत हों तो साधक को गीता और विष्णु-सहस्रनाम का पाठ और हरि-कीर्तन करना चाहिए।

सगुन ब्रह्म गीता कह्यौ, निर्गुन बेद रचाय।
नित्य करहि अभ्यास जो, निर्मल बनहि सुभाय ।।१०।।
दान देइ लख दीन कौ, अरु सेवइ सत्संग।
दोइ साधन सौं सुद्ध ह्वै, चढ़हि ज्ञान को रंग ।।११।।
मिटहि भिन्नता, सब जगत, इक बिराटमय दीख।
दरसन होइ बिराट को, लखिहहि ब्रह्म नजीक ।।१२।।

वेद-विहित कर्मों से शुभ गति

जग-रचना बतलाय पुनि. धरम-सृष्टि निरदेस।
हरि-इंगित यहि जीव तज, माया जनित कलेस ।।१।।
दयासिन्धु कीन्ही दया, होवइ जिव कल्यान।
करम जाल बन्धन पड़्यौ, माया अति बलवान ।।२।।
फल करमन्ह कौ चाखने, आयौ जिव संसार।[1]
बेद बिहित करनी करइ, होवइ बेड़ो पार ।।३।।[2]

---

१. फल चाखने पर श्रुति कहती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

(मुण्डक० ३।१।१)

अर्थात्—जीव और ईश्वर दो सुन्दर पर्ण वाले अर्थात् नियम्य-नियामक भाव की प्राप्ति-रूप (ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण नियामक है और जीव अल्पज्ञ होने के कारण नियम्य है) अथवा वृक्ष पर निवास तथा फलभोग करने वाले होने से समान आख्यान वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष का आश्रय लेते हैं। उनमें एक लिंगोपाधि रूप वृक्ष को आश्रित करने वाले क्षेत्रज्ञ पिप्पल यानी अपने कर्म से प्राप्त होने वाला सुख-दुःख रूप फल खाता या अविवेकवश भोगता है और दूसरा, जो नित्य शुद्ध बुद्ध-मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ मायोपाधिक ईश्वर हैं, उसे ग्रहण न करता हुआ नहीं भोगता। वह साक्षीत्व रूप सत्ता मात्र से भोक्ता और भोग्य दोनों का प्रेरक है।

२. भगवान् श्रीकृष्ण गीता के १८वें अध्याय में कर्तव्य-अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र को ही प्रमाण बताते हुए और शास्त्र-विधि से रहित मन-मर्जी कार्य करने वाले को परम-गति प्राप्त न होने की चेतावनी (श्लोक २३-२४) देने के उपरान्त १८वें अध्याय में कह रहे हैं—

आवइ बिद्या बेद की, गुरु किरपा लै ओढ़।
ध्यान करइ श्री राम कौ, जग सौं लै मुख मोड़ ॥४॥
ईस न रीझै काहु पै, काहू सौं नहिं बैर।[1]
करनी खोटी देइ दुख, सुभ करनी करि खैर ॥५॥
बीज बुवै पै कब मिलहि, फल अंकुर तत्काल।
पाप करै पै होइ दुख, अबहुँ होइ कै काल ॥६॥
जानइ या सिद्धान्त कौ, सब सौं जोरइ प्रीत।
बनई अजातसत्रु सम, प्रीतहि जाकी नीति ॥७॥[2]
बैर न काहू सौं करइ, पर दुख करिहै साँत।
दुःख हरइ अबिचल रहहि स्वयं न होइ असाँत ॥८॥
जानइ दुख फल पाप कौ, किन्तु दया जनि छाँड़।
बक्र हुए पै ईख महि, जित देखौ तित खाँड़ ॥९॥
तजइ पाप सुभ गति लहहि, साधन बेद बताय।
जब लौं तन महि बल भरौ, करत न तनिक थकाय ॥१०॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्म निरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५

अर्थात्—"अपने-अपने (स्वाभाविक) कर्म में लगा हुआ मनुष्य भगवत् प्राप्ति रूप परम सिद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु, जिस प्रकार से अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त होता है, उस विधि को तू मेरे से सुन।" और अगले श्लोक में आनन्दकन्द भगवान् ने बताया है, कि मनुष्य अपने स्वाभाविक कर्मों से उस परमेश्वर को पूजकर परमसिद्धि को प्राप्त होता है।

१. गीता के ९वें अध्याय के २९वें श्लोक में कहा गया है—

"समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।"

अर्थात्—मैं सब भूतों में समभाव से व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है।

२. महाभारत के समय दुर्योधन ने युधिष्ठिर से विनयपूर्वक यह प्रश्न किया था, कि ऐसा कौन सा उपाय है, कि मैं युद्ध में परास्त न होऊँ और मेरी जय हो। इस पर युधिष्ठिर ने उन्हें बताया था—"माँ की कृपा प्राप्त करो, इसी से तुम्हारा शरीर वज्र के समान कठोर हो जायगा।" इससे प्रकट है, कि अजातशत्रु युधिष्ठिर अपनी दृष्टि में किसी को वैरी नहीं मानते थे; कौरव ही उन्हें अपना शत्रु मानते थे।

आश्रम-धर्म

आध्यत्मिक उन्नति करइ, बेद-कर्म अपनाय ।
गुरु सौं दीक्षा लेइ कैं, एकाच्छरहि दृढ़ाय ।।१।।
बेद जाहि कौ जस कह्यो, कठिन ब्रह्मपद लाभ ।
प्रनब सेतु सम जानियै, ज्ञान-सुधा परसाद ।।२।।[1]
आजीवन ब्रह्मचर्ज सौं, ब्रह्म मिलिहि सिद्धान्त ।
जीव गृहस्थी ओऽम जप, पा सुख चर्यौं रहि क्लांत ।।३।।
पाँच सून घर होंहि नित, पंच जाग सौं जायं ।
आश्रम रहि सो श्रम करिह जेहि कल्यान करायं ।।४।।[2]
तन-पोषक ह्वै जनि करइ, एकहु जाग न दान ।
भोगासक्त गृहस्थ सो, सपनेहुं नहि कल्यान ।।५।।[3]

---

१. ओंकार के विषय में भागवत्कार कहते हैं:—

"ॐकार अपने आश्रय परमात्मा परब्रह्म का साक्षात् वाचक है । और ओंकार ही सम्पूर्ण मन्त्र, उपनिषद् और वेदों का सनातन बीज है ।" (१२।६।४१)

२. गृहस्थ में पाँच वस्तुओं से हिंसा अनिवार्य रूप से होती है, ऐसा माना गया है । और वे हैं—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और पानी का घड़ा । इनके नीचे अथवा इनके द्वारा छोटे-छोटे कीड़ों की हिंसा हो जाया करती है । इस पाप के निवारणार्थ पंच महायज्ञ करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है । पंच-महायज्ञ इस प्रकार हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय, (२) देवयज्ञ, अग्निहोत्र आदि होम, (३) भूतयज्ञ, पशु-पक्षी आदि को भोजन देना, (३) पितृ-यज्ञ, पितृ-तर्पण, पिंडक्रियादि, और (५) नृयज्ञ, अतिथि-पूजन ।

मनुस्मृति में लिखा है:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ।। (मनु० ।३।७०)

वेद-शास्त्र का पठन-पाठन एवं सन्ध्योपासन, गायत्रीजाप आदि ब्रह्म-यज्ञ है, नित्य श्राद्ध-तर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्य-यज्ञ है ।

३. गीता में श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

यत्र शिष्टामृत भुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्यज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ।।४।३१

अर्थात् हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञों के परिणामस्वरूप अमृत को भोगने

तनिक बिचारै जीव तू रोग-जनक ह्वै भोग ।
भय कलंक परिवार माँहि, धन माँहि राजा, लोभ ।।६।।
रूप जरा, बल बैरिहू, गुन खल को डर होय ।
बिद्या बाद-बिबाद डर, गरब ज्ञान सौ खोय ।।७।।
तन पै हू ममता घनी, तहँ यम को डर खाय ।
भयदायी बस्तू सबै, पन बैराग्य बिहाय ।।८।।[1]
जान एतनो जो करइ, पुण्य करम अरु ध्यानु ।
मन निर्मल ह्वै एक दिन, मिलि जैहै भगवानु ।।९।।
इच्छा करि जो भोग की, स्वर्ग-भोग मिलि जायं ।
पुन्य छीन पुनि तेहु सब, अंतहि अबस नसायं ।।१०।।
पामर नित सुख तब मिलिहि नित्य पदारथ ध्याय ।
धावहि पाछै भोग कें, भोग तोहि खा जाय ।।११।।
करइ करम निष्काम अरु, आश्रम धरम निभाय ।
गुरु किरपा सौं ब्रह्म को जानि मोच्छ पा जाय ।।१२।।

धर्म से अन्तःकरण की शुद्धि

सुनहु सत्यता, सुद्धता, अरु सुपात्र कूँ दान ।
दया सहित यहि चारिहूँ, पाद धरम कै जान ।।१।।[2]

वाले योगी जन सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और यज्ञ-रहित पुरुष को यह मनुष्य-लोक भी सुखदायक नहीं, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा ?

१. श्री भर्तृहरि लिखते हैं—

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाभ्दयं ।
मौने (माने) दैन्य भयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं कायं कृतान्ताद्भयं ।
सर्वं वस्तुभयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ।।

अर्थात्—"भोग में रोग का भय है, कुल में क्षति का भय है, धन में राज का, मौन में दीनता का, बल में शत्रुता का, रूप में जरा का, शास्त्र में वाद-विवाद का, गुण में दुष्ट का और शरीर में मृत्यु का भय है। इस संसार में सभी वस्तु भय से आच्छादित हैं, केवल वैराग्य ही अभय है।" (वैराग्यशतक-३२)

२. मनु ने धर्म के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

मधुर, यथारथ, कपट सौं सब बिधि होवै हीन ।
अहित न काहू कौ करहि, सत्य कथन सो चीन्ह ।।२।।
जस कछु देखो अरु सुनो, समझु परइ जस बुद्धि ।
परहित तैसो ही कहहि, जानइ सत्य बिसुद्ध ।।३।।
पालन सत को व्रत करइ, कथन होइ सब साँच ।
कबहु न बाणी व्यर्थ ह्वै, जरहि न जम की आँच ।।४।।[1]
सुद्ध आचरण जो करै, तन सौं सुध ब्योहार ।
बाहर होइ पवित्र पुनि, भीतर करै सुधार ।।५।।
राग-द्वेष त्यागहि कपट, छाँड़ि वैर-अभिमान ।
नासहि सकल बिकार जहँ अन्तर सो सुध जान ।।६।।
बाह्य सौच सौं होवहि, तन पै घृणा अपार ।
दूजे कै संसर्ग महं, पुनि बिराग संचार ।।७।।[2]

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। (मनु ६।९२)

अर्थात्—"धैर्य, क्षमा, मन का निग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतर की शुद्धि, इन्द्रियों का संयम, सात्विक बुद्धि, अध्यातम विद्या, यथार्थ भाषण और क्रोध न करना, ये धर्म के दस लक्षण हैं।"

१. पतंजलि 'योगदर्शन' में लिखा है—

सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम् ।।२।३६

अर्थात्—जब योगी सत्य का पालन करने में पूर्णतया परिपक्व हो जाता है, उस समय वह कर्तव्य पालन रूप क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है। वह जिसको जो वरदान, शाप, अथवा आशीर्वाद देता है, वह सत्य हो जाता है। उसकी वाणी व्यर्थ नहीं जाती।

२. पतंजलि 'योगदर्शन' के दूसदे पाद के ४० और ४१ सूत्रों में कहा है—

शौचात्स्वांग जुगुप्सा परैरसंसर्गः ।।४०।।

और— सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रयेन्द्रिय जयात्मदर्शन योग्यत्वानि च ।।४१।।

अर्थात्—बाह्य शुद्धि और अभ्यास से साधक को अपने शरीर में अपवित्र बुद्धि होकर उसमें वैराग्य हो जाता है, अर्थात् उसमें आसक्ति नहीं रहती और दूसरे सांसारिक मनुष्यों के संग में भी प्रवृत्ति या आसक्ति नहीं रहती ।

इसी प्रकार आन्तरिक शौच के अभ्यास के राग-द्वेष आदि मलों का अभाव होकर मनुष्य का अन्तःकरण स्वच्छ हो जाता है। मन में प्रसन्नता,

चित्त सुद्धि, एकाग्रता, मन महँ मोद बसाय।
होवइ अन्तर-सौच सौं, बस इन्द्रिय समुदाय ॥८॥
धन, बिद्या अरु अन्न, जल, बस्त्र, बुद्धि, उपदेस।
जो होवइ सो दान दै, देखि पात्र अरु देस ॥९॥
त्याग भाव प्रतिदान को, सत्व-दान हू देय।
जाना चाहै महत्त जो, सीख नकुल सौं लेय ॥१०॥[1]
दूर करै दुख दुखिन को, मन होवइ नवनीत।
सकल जीव पै करि दया, जीवन सुफल पुनीत ॥११॥[2]
यदि साधन सौं सुद्ध ह्वै बेगिहि अन्तर आतम।
मिटिहि भेद लखि एकहू, जीव और परमातम ॥१२॥
साम, यजुः रिजु मनन सौं, वाक् सुद्ध ह्वै जाय।
मधुर बानिहू बेद को, रस मानुसहि कहाय ॥१३॥[3]

चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्मसाक्षात्कार की योग्यता भी आ जाती है।

१. 'महाभारत' के अश्वमेधपर्व में ऐसी कथा आती है:—

एक नेवले ने, जिसका आधा शरीर एक उंछवृत्ति वाले गरीब ब्राह्मण द्वारा एक महात्मा को कराये गए भोजन के उच्छिष्ट में लेटने से स्वर्ण का हो गया था और युधिष्ठिर के अश्वमेघयज्ञ की जूठन में लेटने से जिसका आधा शरीर सोने का न हो सका, ब्राह्मण के साधारण सत्तू के दान को महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए पाण्डवों के अपार दान की निन्दा की थी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने 'गीता' के १७वें अध्याय के २०वें श्लोक में सात्विक दान का लक्षण इस प्रकार बता है:—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥

अर्थात्—दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर प्रत्युपकार न करने वाले के लिए दिया जाता है, वह दान सात्विक कहा गया है।

२. श्री चैतन्य महाप्रभु ने तीन ही बातों में अपना उपदेश देते हुए जीवों पर दया का महत्त्व स्वीकार किया है—

नामे रुचि, जीवे दया, वैष्णव—सेवन।
इहा छाड़ा आर नाहिं जानि सनातन ॥

३. 'छान्दोग्य उपनिषद' में आया है:—

जान परम रस प्रनब कौं, बेद कह्यो उद्गीथ ।
वाहि पाइबे हेतु जिव, प्रथम लेहि मन जीत ।।१४।।
मन जीतहि अरु काल कौं, पुनि अनुकूल बनाय ।
विश्वामित्र अरु भीष्महु मारग दियो बताय ।।१५।।[1]

वाचऋग् रसः ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ।

"इन चराचर जीवों का रस-आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का रस-आधार अथवा कारण जल है, जल का रस उस पर निर्भर करने वाली औषधियाँ हैं, औषधियों का रस उससे पोषण पाने वाला मनुष्य-शरीर है, मनुष्य का रस-प्रधान अंग वाणी है, वाणी का रस-सार ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ (ओंकार) है । इनमें जो आठवाँ रस उद्गीथ रूप ओंकार है, वह समस्त रसों में उत्कृष्ट रस है । अतः यह सर्वश्रेष्ठ और परब्रह्म परमात्मा का धाम-आश्रय है ।" इसी की प्राप्ति के लिए यहाँ मन जीतने की आवश्यकता बताई गई है।

'वृहदारण्यक उपनिषद' में ज्ञान का एकमात्र अधिष्ठान वाक् को माना गया है—"सर्वेषां वेदानां वागेवायतनाम् ।" (२।४।११) और "वाग् वै सम्राट परमं ब्रह्म" ४।१।२ द्वारा "वाक् ही परम ब्रह्म है" का निर्देश किया गया हैं । अतः यहाँ वेदों के मनन से वाक्-शुद्धि अभिप्रेत है, क्योंकि उसी से अन्ततोगत्वा उद्गीथ रूप ओंकार की प्राप्ति हो सकेगी ।

"उद्गीथ" की व्याख्या छान्दोग्य में इसी प्रकार समझाई गई है। उद्गीथ शब्द परमात्मा की वाच्य है । पहला अक्षर 'उत्' ही प्राण है, क्योंकि मनुष्य प्राण से ही उत्थान करता है । 'उत्' उत्थान का वाचक है । दूसरा 'गी' वाणी का द्योतक है । और 'थ' अन्न का वाचक है, क्योंकि यह ससस्त जगत् अन्न के ही आधार स्थित है और 'थ' स्थिति का बोधक है । 'उत्' 'गी' 'थ' क्रमशः स्वर्ग, अन्तरिक्ष और भू तीन लोकों के लिए हैं । और 'उत्' ही आदित्य है, 'गी' वायु है और 'थ' अग्नि है । 'उत्' ही सामवेद, 'गी' यजुर्वेद है और 'थ' ऋग्वेद है । इस प्रकार जानने वाला जो साधक 'उद्गीथ' शब्द के इन तीनों अक्षरों की ओंकारवाच्य परमात्मा के रूप में उपासना करता है, उसके लिए वाणी अपना सारा रहस्य प्रकट कर देती है । वेदों का तात्पर्य उसके सम्मुख स्वतः प्रकट हो जाता है । वह सब प्रकार की भोग-सामग्री से एवं उसे भोगने की शक्ति से भी सम्पन्न हो जाता है ।

१. प्रसिद्ध है, कि त्रिशंकु के स्वर्ग से गिरा दिये जाने पर मुनि विश्वामित्र ने तपोबल से नये ही स्वर्ग और सृष्टि की रचना की थी । अर्थात् प्रतिकूल समय

भिन्न मते मतिवान अरु, शास्त्र संत समुदाय ।
चलै महाजन जिस डगर, पथ तो वही सुहाय ।।१६।।
दया, धर्म, तप, दान सौं, नष्ट मलिनता होय ।
दरसन दिव्य बिराट कौ पाइ जनम जनि खोय ।।१७।।

शम-दम की आवश्यकता

जीव नित्य सुख खोजई, जानहि कौन उपाय ।
सपने सौं जाग्रत जथा, माया तज जगि जाय ।।१।।
आद्य रूप को पाइबे हेतु जतन करि जीव ।
केवल सास्त्रनि कौ पढ़ै सो किमि पावै पीव ।।२।।
भीतर मन एकाग्र ह्वै, बाहिर होवै सांत ।
तौ जग महं बिचरहि भलहि, सबु दिसिहि एकांत ।।३।।
दम अधार सौं राखि बस, पाँचहुं तन की नारि ।
राग न प्रबसहि देह महं, सांति न होइ उजारि ।।४।।[1]
जदि प्रमादबस होयगो, क्रोध, लोभ लै घेर ।
कंचन मृग कै लोभ सौं राम सीय कौं हेर ।।५।।

को अपने अनुकूल बनाने का ही भाव इसमें निहित समझना चाहिए। इसी प्रकार भीष्म ने शर-शैया पर असह्य पाड़ा भोगते हुए भी तब तक प्राण नहीं त्यागा जब तक सूर्य उत्तरायण नहीं हुए ।

१. श्री तुलसीदासजी ने 'मानस' में जड़-चेतन की ग्रंथि, माया-ब्रह्म के सम्बन्ध को छुड़ाने का उपाय बताते हुए 'दम' अर्थात् इन्द्रिय संयम पर बल दिया है। वह कहते हैं, कि सात्विक श्रद्धा रूपी धेनु को शुभ कर्मों का तृण, चारा मिले; भावरूपी बछड़े से वह पिह्लाए; निवृत्ति की रस्सी से उसके पैर बंधे हों और निर्मल मन रूपी अहीर विश्वास रूपी पात्र में उसका दूध निकाले; अकाम अग्नि से गरम किया गया दूध, धृति के जामुन से जमाया जाय। विचार रूपी मथानी से इसे मथे। मथते समय—"दम अधार रज सत्य सुबानी" हो।

अर्थात् रई 'दम' की हो। इन्द्रिय-दमन की ओर संकेत है। यह इन्द्रिय-दमन नहीं है कि उनके द्वार खुले हों; इन्द्रियों के द्वार खुले होंगे, तो राग अन्दर प्रवेश कर जायगा और सारी साधना पर पानी फिर जायगा। अतः इन्द्रिय-दमन का ही भाव यहाँ व्यक्त किया गया है। इस प्रकार प्राप्त हुए नवनीत को औंटाकर बनाये गए घृत से ही ज्ञान-दीप प्रज्वलित होगा ।

राम बंधायो बारिनिधि, हत्यो दसानन जाय।
करम-उपासन-ज्ञान-पुल, जगत-जलधि उतराय ।।६।।
बेद बतायो करम बहु, औरु उपासन थोरि।
तासों कम उपदेस महं, ज्ञानहि गूढ़ निचोरि ।।७।।
तासौं पुनि "यजमान" कौ, यहि थल पै निरदेस।
देवार्चन, सत् संग अरु, दानहु को उपदेस ।।८।।[1]
करहि धरम कौ आचरन, ध्येय परम पद जान।
होवइ मन एकाग्र तौ, राग न करि हैरान ।।९।।
तन-बिराट, इन्द्रियनि-गौ, कौरव क्रोध समान।
पाण्डव-ज्ञानेन्द्रियनि सम, जिति माया बलवान ।।१०।।[2]
शम, दम अरु अभ्यास सौं, जब मन थिरि ह्वै जाय।
पहिले लखि साकार कौ, निराकार दरसाय ।।११।।
निराकार अव्यक्त हू, अनिरदेस ही जान।
जग के विषय बिहाइ कै, ह्वै अव्यक्त समान ।।१२।।[3]

---

१. द्वितीय मुण्डक के प्रथम खंड के इस मन्त्र में "यजमानश्च" पद से यज्ञकर्ता का बोध कराते हुए, शुभ कर्म अथवा वेदप्रतिपाद्य कर्म करने पर ही विशेष बल दिया गया है।

२. 'महाभारत' में प्रसंग आता है कि जब वनवास के अन्तिम वर्ष में पाण्डव राजा विराट की नगरी में छद्मवेश में रह रहे थे, तब कौरवों ने राजा विराट की गौएँ चुराने का प्रयत्न किया। उस समय राजा विराट के पुत्र का सारथी बनकर अर्जुन ने कौरवों को परास्त कर गौओं की रक्षा की। 'गो' का अर्थ इन्द्रिय भी है। शरीर को विराट, इन्द्रियों को गौ; काम, क्रोधादि विकारों को कौरवों और विवेक-सम्पादन करने वाली ज्ञानेन्द्रियों को यहाँ पाण्डवों की उपमा दी गई है।

३. 'गीता' के १२वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को साकार और निराकार की उपासना करने वाले भक्तजनों की श्रेष्ठतर बताते हुए कहा है—

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।४।।

मनुष्य देह की उत्तमता

राखहिं श्रद्धा बेद महँ करहि धरम आचार।
बिनु श्रद्धा कै ज्ञान किमि, होय न बेड़ो पार ।।१।।[1]
होवइ जदि बिस्वास दृढ़, स्वर्ग याहि तन जाय।
बिनु बिस्वास त्रिसंकु सम, बीचहि महँ लटकाय ।।२।।[2]

अर्थात् जो पुरुष इन्द्रियों के समुदाय को अच्छी प्रकार वश में करके मन-बुद्धि से परे सर्वव्यापी, अकथनीय स्वरूप और सदा एक रस रहने वाले नित्य अचल निराकार अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को निरन्तर एकीभाव से ध्यान करते हुए उपासते हैं, वे सम्पूर्ण भूतों के हित में रत हुए और सब में समान भाव वाले योगी मेरे को ही प्राप्त होते हैं।

१. 'गीता' के चौथे अध्याय में कहा गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।४।३९

अर्थात् जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है तथा ज्ञान को प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब के—तत्काल ही भगवत्-प्राप्तिरूप परमशान्ति को प्राप्त हो जाता है।

'पातंजल योग-दर्शन' में भी सूत्रकार ने किसी भी साधन में प्रवृत्त होने का, अविचल भाव से उसमें लगे रहने का मूल कारण श्रद्धा ही बताया है। इसी दृष्टि से नीचे के सूत्र में पहला स्थान 'श्रद्धा' का है—

श्रद्धावीर्य स्मृतिसमाधि प्रजापूर्वक इतरेषाम् ।।१।२०

अर्थात्—"दूसरे साधकों का निरोध रूप योग श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रम से सिद्ध होता है।" श्रद्धा के साथ वीर्य अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर का सामर्थ्य भी परम आवश्यक है। श्रद्धा और वीर्य से स्मरण-शक्ति बलवती होती है। मन विषयों से विरक्त होकर समाहित हो जाता है। यही समाधि है। इससे अन्तःकरण स्वच्छ हो जाने पर साधक की बुद्धि सत्य को धारण करने वाली होती है।

२. प्रसिद्ध है, धर्म-परायण युधिष्ठिर सदेह स्वर्ग में गए थे, जबकि अश्रद्धालु त्रिशंकु को स्वर्ग में से धक्के खाकर लौटना पड़ा और वह बीच हा में लटका रहा।

मृत्यु लोक उत्तम बड़ो, उत्तम मानुस देह ।
साधन करि तौ ब्रह्म ह्वै, सदा सत्व सौं नेह ॥३॥[1]
इच्छा सक्ती देइ प्रभु, केवल मनुज सरीर ।
याहि जान करि आचरन सुभहि सदा सो धीर ॥४॥
करहि असुभ जनि जान जड़ प्रेरक तू जगदीस ।
प्रभु बैठौ बन साक्षी, जस बौवै तस पीस ॥५॥
मनुज देह महं आतमा, ऐसो पड़ै लखाय ।
निर्मल दरपन कर गहे, आनन जिमि दरसाय ॥६॥
देवलोक महं लख पड़ै जिमि जल महँ परछाईं ।
अरु जानइ गान्धर्व महँ बहते पानी झाईं ॥७॥
आतम दरसन इमि सुगम, मनुज देह माँहि भाइ ।
जनि मूरख जग महँ रमै, मोच्छ द्वार यहि पाइ ॥८॥[2]
ज्ञान उपासन करम कौं, फल यौं बेद बताय ।
मोच्छ, ईश अरु देव कौं, क्रमसः लोक मिलाय ॥९॥
मनहि सांति होवइ परम, शम, दम, अरु बैराग ।

---

१. तात्पर्य सात्त्विक श्रद्धा से ही है । सात्विक श्रद्धा से ही ज्ञान उत्पन्न होता है । जैसा कि गीता के १४वें अध्याय के १७वें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण बता रहे हैं—

सत्त्वात्सांजयते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहो तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१४।१७

अर्थात्—सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुण से निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान भी उत्पन्न होते हैं । अतः साधक को सत्वगुण ही बढ़ाना चाहिए ।

२. गोस्वामीजी ने 'मानस' में कहा है—

"देह धरे को यहि फल भाई ।
भजिय राम सब काम बिहाई ॥"

और भी—

"साधन धाम मोछ कर द्वारा ।"

ज्ञान से मोक्ष, उपासना से ईश्वर और शुभकर्मों से देवलोक की प्राप्ति होती है ।

होइ तितिच्छा बलभरौ, जनि उर कोपहि आगि ॥१०॥[1]
लोभी जन सो जानिए, मानवता से हीन।
करै क्रोध दम्भी महा, बनै अंकिचन दीन ॥११॥
साधक यौं साधन करहि, ध्यावहिं ब्रह्म स्वरूप।
भयौ प्रमादी भोग बस, बृथा धन्यौ नर रूप ॥१२॥

---

१. यहाँ 'साधन-चतुष्टय' की ओर संकेत है। पहला साधन नित्या-नित्य-वस्तु-विवेक गिना जाता है, दूसरा लौकिक एवं पारलौकिक सुख-भोगों में वैराग्य होना है, तीसरा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये छः सम्पत्तियाँ हैं और चौथा है, मुमुक्षुता।

श्री शंकराचार्य भगवान् 'विवेक चूड़ामणि' में कहते हैं—

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः॥
तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोग वस्तुनि॥
विरज्य विषयव्राताद्दोषदृष्ट्या मुहुर्मुहः।
स्वलक्ष्ये नियतावस्था मनसः शम उच्यते॥
विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्व स्वगोलके।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्तितः।
बाह्यानालम्बनं वृतेरेषापरतिरुत्तमा॥
सहनं सर्वदुःखानाम प्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ता विलाप रहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥
शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्य बुद्ध्यवधारणम्।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते॥
सर्वदा स्थापनं बुद्धे शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्॥
अहंकारादिदेहान्तान्बन्धानज्ञान कल्पितान्।
स्व स्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता॥

अर्थात्—ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, ऐसा जो निश्चय है वही नित्या-नित्य वस्तु विवेक कहलाता है। (२) दर्शन और श्रवणादि द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग पदार्थों में जो घृणाबुद्धि है, वही वैराग्य है। (३) बारम्बार दोष-दृष्टि करने से विषय-समूह से विरक्त होकर चित्त

तपबल और सत्य

परम ब्रह्म तपरूप को, होवइ तप सौं ज्ञान।
साधक सुध ह्वै तप करइ, तपबल अति बलवान ॥१॥[1]
करहि धरम निज आचरन, जथा बरन बतलाय।
तन-मन सौं ह्वै कष्ट जदि, तदपि सदा सरसाय ॥२॥
पूजहि गुरु, द्विज, देवता, ज्ञानीजन सद्भाव।
ब्रह्मचर्ज, अरु शौच पुनि सरल, अहिंसा भाव ॥३॥
तन-तप इमि करि, साधई बानी तप जप नाम।
भलो जथारथ बोलई, बेद पढ़ई निःकाम ॥४॥
सौम्यभाव, मन मोद रहि, भगवत जपइ सुभाय।
अन्तर पावन, मन शमन, मन-तप यहि बतलाय ॥५॥
सात्विक तप यहि जानियै, जदि श्रद्धा सौं होय।
फल की करहि न कामना, मन को मल सब धोय ॥६॥
मान हेतु दम्भी करहिं, सो तप राजस जान।
पुनि तामस तप को करहिं, बरनन यौं भगवान ॥७॥

का अपने लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही शम है। (४) कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों को उनके विषय से खींचकर अपने-अपने गोलकों में स्थिर करना 'दम' कहलाता है। (५) वृत्ति का बाह्य विषयों का आश्रय न लेना यही उत्तम 'उपरति' है। (६) चिन्ता और शोक रहित होकर बिना कोई प्रतिकार किये सब प्रकार के कष्टों का सहना 'तितिक्षा' कहलाती है। (७) शास्त्र और गुरु-वाक्यों में सत्यत्व बुद्धि करना, इसी को सज्जनों ने श्रद्धा कहा है, जिससे कि वस्तु की प्राप्ति होती है। (८) अपनी बुद्धि को सब प्रकार शुद्ध ब्रह्म में ही सदा स्थिर रखना, इसी को समाधान कहा है। चित्त की इच्छापूर्ति का नाम समाधान नहीं है। (९) अहंकार से लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञान-कल्पित बन्धन हैं, उनको अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा मुमुक्षुता है।

१. गोस्वामीजी 'मानस' में लिखते हैं :—

तपबल रचइ प्रपंच बिधाता।
तपबल बिष्णु सकल जग त्राता ॥
तपबल संभु करहिं संघारा।
तपबल सेष धरइ महि भारा ॥ (बालकाण्ड)

मन, बानी, तन जो कसै, हठ बस दुख सह मूढ़ ।
देवइ पीड़ा अन्य कौं, हृदय बसइ तम गूढ़ ।।८।।[1]
बिधिवत साधक तप करइ, धरम न नैकहु त्यागि ।
पावहि तपजा सिद्धि कौं, मन निरमल तप-आगि ।।९।।[2]
जानि तपस्वी सत्य कौं, करहि असत् जनि ध्यान ।
तून अरु ब्रह्मा जगत सबु, मायिक झूठो जान ।।१०।।
सत्य परम परमात्मा, साधन सत्य महान ।
"अहं ब्रह्म" साँचो कथन, निज सरूप पहचान ।।११।।
सत्य सदा जीतइ जगत, अथवा मोच्छ दिलाय ।[3]
जा महँ रहवइ वाक्-छल, सौ जनि सत्य कहाय ।।१२।।
सभा वाहि कौ जानिये, जा महुँ बृद्ध बिराज ।
बृद्ध धर्म सौं जानिये, धर्म सत्य जहँ राज ।।१३।।
जहाँ सत्य तहँ लच्छमी, जस अरु धरम सुहाय ।[4]
जनि प्रमाद वस होय कैं सीस असत्य चढ़ाय ।।१४।।
तन-मन बानी-सौं सदा, करहि सत्य ब्यौहार ।
दरसन प्रभु कौं पाइ लै, ध्यान हरीचँद धारि ।।१५।।

---

१. देखिए 'गीता' अध्याय १७ श्लोक १४ से १९ तक ।

२. 'पातंजल योग-सूत्र' के कैवल्यपाद में प्रथम सूत्र है—

जन्मौषधिमन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः

अर्थात्—जन्म से होने वाली, औषधि से होने वाली, मन्त्र से, तप से और समाधि से होने वाली ५ प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं । भरद्वाज, विश्वामित्र आदि ऋषियों ने तपजा सिद्धि का प्रयोग करके दिखाया है ।

३. 'सत्यमेव जयते' से यही परिलक्षित है । सत्य से जगत और ईश्वर दोनों जीते जा सकते हैं ।

४. इस प्रसंग में महात्मा लोग प्रायः यह दृष्टान्त सुनाते हैं—एक राजा था । उसने ऐसा नियम बना रखा था कि उसके राज्य में बाहर से माल लाने वाले किसी व्यापारी का माल न बिके, तो उसे राज्य की ओर से खरीद कर मूल्य दे दिया जाता था । अतः उसके राज्य में बहुत से व्यापारी माल बेचने आते थे । एक बार एक लुहार शनि की मूर्ति बनाकर ले आया । अब शनि को कौन खरीदे ! अन्त में वह राजा के यहाँ पहुँचा । उसके मन्त्रियों ने भी यही

प्राण और अन्न

प्रान भये वा ब्रह्म सौं, प्रानहि देइ मिलाय।
प्रान रुके पै मन रुकइ, मन थिर ब्रह्म लखाय ॥१॥[1]

परामर्श दिया कि 'महाराज ! शनि को नहीं लेना चाहिए ।' पर राजा ने कहा— "हम अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पालेंगे ।" अत: राज्य की ओर से शनि खरीद लिया गया । अब क्या था ! राजा से लक्ष्मी रूठ गई । वह राजा से बोली—"तुमने शनि को रखा है, इसलिए मैं यहाँ अब नहीं रह सकूँगी ।" राजा ने कहा— "आपकी इच्छा ! मैं अपने वचन से नहीं डिग सकता !" अब लक्ष्मी चली गई तो यश भी जाने को उद्यत हुआ । उसने कहा—"राजन् ! जहाँ लक्ष्मी नहीं, मैं वहाँ नहीं रह सकता !" राजा ने उसकी भी परवाह न की । यश चाहे चला जाये, पर नृपति अपने वचन को वापस नहीं लेगा । यश भी चला गया और उसके बाद ही इसी प्रकार धर्म भी चलता हुआ । अब सत्य आया । वह वोला— "जब आपके पास लक्ष्मी और यश नहीं, तो मैं भी कैसे रहूँगा ?" राजा ने गम्भीरता से कहा—"सत्य ! तुम्हें मैं नहीं जाने दूँगा । तुम्हारी रक्षा के लिए ही तो मैंने शनि की मूर्ति खरीदी और लक्ष्मी एवं यश की उपेक्षा की । तुम कैसे जा सकोगे ?" बात युक्तियुक्त थी । सत्य को रुकना ही पड़ा । फिर तो पाँसा ही बदल गया । सत्य रह गया तो यश भी लौट आया और धर्म और यश के बिना न रह सकने वाली लक्ष्मी भी अन्ततोगत्वा लौट ही आई । अत: जहाँ सत्य है वहीं लक्ष्मी, यश और धर्म भी रहते हैं ।

१. प्राण ब्रह्म से ही उत्पन्न हैं और 'प्राण' नाम से 'ब्रह्म' का वर्णन भी हुआ है । छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के ११वें खण्ड के ५वें मन्त्र में कहा गया है—

"सर्वाणिहा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणम्भ्युज्जिहते"

अर्थात्—निश्चय ही ये सब भूत प्राण में ही विलीन होते हैं और प्राण से ही उत्पन्न होते हैं ।

प्राण पाँच माने गए हैं—(१) प्राण-नासिका से हृदय तक इसका देश है और इसकी गति मुख-नाक द्वारा होती है । (२) अपान-नाभि से पादतल तक इसका देश है—यह नीचे को गमन करने वाला है । यही मल-मूत्र बाहर फेंकता है, (३) समान—जो हृदय से नाभि तक रहता है और नाड़ियों में रस फेंकता है, (४) उदान-ऊपर की ओर गमन करने वाला है । मृत्यु समय सूक्ष्म शरीर को यही ले जाता है । यह कण्ठस्थ वायु है और जल-अन्न अलग-अलग करता है

और (५) व्यान—जो सारे शरीर में व्याप्त है—जो पराक्रमयुक्त कार्य करने में सहायक है। पाँच उप प्राण हैं—(१) उद्गार-जिससे डकार लेते हैं, (२) कूर्म-जिससे पलकें गिरती-उठती हैं, (३) कृकल-शरीरस्थ वायु जो क्षुधा लगाता है, (४) देवदत्त जिससे उबासी आती है और (५) धनंजय-मृत्यु काल में जो शरीर फुला देता है।

तैः सर्वैः सहितैः प्राणोवृत्ति भेदात्स पंचधा।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौच ते पुनः।। (पंचदशी १।२२)

उन पाँचों भूतों के रजो भागों से मिलकर एक प्राण का जन्म होता है, वह प्राण वृत्ति भेद से पाँच प्रकार का होता है—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान।

'पातंजल योगसूत्र' के 'विभूतिपाद' में आया है—

उदानजयाज्जलपंक कंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च।३९ समानजयाज्ज्वलनम्।४०।

अर्थात्—उदान वायु को जीत लेने से जल, कीचड़, कण्टकादि से योगी के शरीर का संयोग नहीं होता (क्योंकि वह रुई की तरह अत्यन्त हलका हो जाता है) मरणकाल में उसकी ऊर्ध्वगति भी होती है यानी उसके प्राण ब्रह्म रन्ध्र (मूर्धा के छिद्र) से निकलते हैं। इसी प्रकार समान वायु को जीत लेने से योगी का शरीर दीप्तिमान हो जाता है। क्योंकि समानवायु और जठराग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। समान वायु को जीतकर योगी जठराग्नि के आवरण को हटाकर अग्नि के सदृश प्रकाशमान हो सकता है।

"प्रश्नोपनिषद्" में भी आया है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः
स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः एषः
ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेवाः
सप्तार्चिषो भवन्ति। (३।५)

अर्थात्—"वह प्राण पायु (गुदा) और उपस्थ में अपान को नियुक्त करता है और मुख तथा नासिका से निकलता हुआ नेत्र एवं श्रोत्र में स्वयं स्थित होता है तथा मध्य में समान रहता हैं। यह समानवायु ही खाये हुए अन्न को समभाव से सर्वत्र ले जाता है। उस प्राणाग्नि से ही दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासारन्ध्र और एक रसना, ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं।

आगे छठे और सातवें मन्त्र में बताया है कि "यह आत्मा हृदय में है। इस हृदय देश में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक-एक की सौ-सौ शाखाएँ

एकहि रथ के चाक दो, प्रान और मन जान।
प्रान रुकइ तौ मन स्वयं ह्वै गति-शून्य समान ।।२।।
योगीजन एहि कारने, करिआंहि प्रानायाम।
रेचक, पूरक जानियै, अरु कुम्भक त्रय नाम ।।३।।[1]
साधारन जन स्वांस लइ, छः सौ सहस इकीस।
जदि समाधि नहिं लागई, इतनो जप जगदीस ।।४।।[2]
ब्रह्म जानिबे को जतन, जो न करइ अस देह।
सो नर तन माँहि पूँछ बिनु, पसु ही निस्संदेह ।।५।।

हैं और उनमें से प्रत्येक की ७२-७२ हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं। **इन सब में काल संचार करता है।** और इन सबमें से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊपर की ओर गमन करने वाला **उदानवायु** जीव को पुण्यकार्य के द्वारा पुण्य लोक को और पापकार्य द्वारा पापमय लोक को और पाप-पुण्य मिश्रित कर्मों द्वारा उसे मनुष्य-लोक को प्राप्त कराता है।

१. "अपरोक्षानुभूति" में भगवान शंकराचार्य ने प्राणायाम और उसके तीन प्रकारों को निम्न प्रकार बताया है :—

चित्तादि सर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।।

अर्थात्—चित्तादि समस्त भावों में ब्रह्म रूप से ही भावना करने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध हो जाता है। वही प्राणायाम कहलाता है। और—

निषेधनं प्रपंचस्य रेचकाख्यः समीरणः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ।।
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राण संयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ।।

अर्थात्—प्रपंच का निषेध करना रेचक प्राणायाम है और 'मैं ब्रह्म ही हूँ', ऐसी जो वृत्ति है वही पूरक प्राणायाम कहलाता है। फिर उस ब्रह्माकार वृत्ति की निश्चलता ही कुम्भक प्राणायाम है। जाग्रत पुरुषों के लिये तो यही क्रम है। अज्ञानियों के लिए घ्राणपीड़न ही प्राणायाम है।

२. सामान्यतः एक व्यक्ति के २४ घंटों में २१६०० श्वांस आते-जाते हैं। भाव यह है कि यदि समाधि के लिये जीव प्रयत्नशील नहीं है तो कम-से-कम इतने नाम-जप तो प्रतिदिन अवश्य ही करे।

चार कोटि के हों मनुज, सब ग्रंथनि बतलाय।[1]
जैसो खावइ अन्न-जल, मन तैसोहि बनाय ॥६॥[2]
अन्न ब्रह्म हू जानियै, जाको श्रुतिहि प्रमान।[3]
खावइ सात्विक अन्न जदि, सतोगुणी मन जान ॥७॥[4]
मन सात्विक पै बुद्धि कौ, सहज जान एकाग्र।
औरु समाहित बुद्धि पुनि भगवत्-भजन-कुशाग्र ॥८॥
अन्न पाप कौ खाइ कैं, पामर धरम भुलाय।
मन-मर्जी ब्यौहार सौं, नीच नरक निश्चराय ॥९॥

---

१. चार प्रकार के मनुष्य इस प्रकार जानने चाहिएँ—(१) मुक्त, (२) मुमुक्षु, (३) विषयी और (४) पामर।

२. अन्न से ही मन बनता है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय के पंचम खण्ड में बताया गया है—"खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका अत्यन्त स्थूल भाग मल हो जाता है, जो मध्यम भाग है, वह मांस हो जाता है। जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है, वह मन हो जाता है।....हे सोम्य ! (श्वेत केतु) मन अन्नमय है। (प्राण जलमय है, और वाक् तेजोमयी है।)

३. छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के नवम खण्ड में अन्न की ब्रह्मरूप में उपासना की गई है। सनत्कुमार ने नारद जी को बताया—"तुम अन्न की उपासना करो। जो अन्न की 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, उसे अन्नवान् और पानवान् लोकों की प्राप्ति होती है। जहाँ तक अन्न की गति है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है।

वृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय के द्वादश ब्राह्मण में भी 'अन्न एवं प्राण' की ब्रह्म रूप से उपासना का निर्देश मिलता है। इसी उपनिषद् के प्रथम अध्याय के पंचम ब्राह्मण में अन्न की उत्पत्ति भी विस्तारपूर्वक बताई है।

४. गीता के १७वें अध्याय के ८वें श्लोक में 'सात्विक आहार' के लक्षण बताये हैं—

आयुःसत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याःस्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराःसात्विकप्रियाः ॥

अर्थात्—आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख, प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त चिकने, स्थिर रहने वाले (जिसका सार अधिक काल तक शरीर में रहे) तथा स्वभाव से ही मन को प्रिय, ऐसे भोजन करने के पदार्थ सात्विक पुरुष को प्रिय होते हैं।

विषयी वैदिक नियम सौं लौकिक सुख लैं भोग।
ईस पाइबे हेतु पुनि, करइ मुमुच्छू योग ।।१०।।
मुक्त जानिये जीव सो आत्म रूप लैं जान।
करइ ब्रह्म अनुभूति वो सब महँ लखहि समान ।।११।।

ब्रह्मचर्य और विधि

ब्रह्मचर्ज पालन करइ, परम ब्रह्म लैं जान।[1]
रच्छन होवै बीर्ज कौ, बेद पढ़हि करि ध्यान ।।१।।[2]

---

१. कठोपनिषद् में आया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद्वदंति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदां संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।। (१।२।१५)

अर्थात्—सारे वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तपों को जिसकी प्राप्ति का साधन बताते हैं तथा **जिसकी इच्छा रखने वाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं**, वह पद मैं संक्षेप से बताता हूँ—"ओम्' यही वह पद है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के अष्टम अध्याय के पंचम खण्ड में ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए कहा गया है—"लोक में जिसे परम पुरुषार्थ का साधन (यज्ञ) कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उस ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है।"

२. "ब्रह्मचर्य का यौगिक अर्थ है, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए वेदों का अध्ययन करना। ब्रह्म की प्राप्ति के लिये छात्रगण गुरु के यहाँ वेदाध्ययन के लिये वीर्य-रक्षा करते थे। अतः ब्रह्मचर्य शनैः शनैः वीर्य-रक्षा के अर्थ में रूढ़ हो गया। ईश्वर-चिंतन भी ब्रह्मचर्य का एक अर्थ लगाया जाता है।

और गीता के ८वें अध्याय के ११वें श्लोक में भी यही कहा गया है—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।

अर्थात्—"हे अर्जुन! वेद के जानने वाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघन रूप परमपद को ओंकार नाम से कहते हैं और आसक्ति रहित यत्नशील महात्मा जन जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिस **परमपद को चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं**, उस परमपद को तेरे लिये संक्षेप से कहूँगा।"

पहिले आश्रम जान लै, संयम को सिद्धान्त।
दूजे महँ पालन करै, धरम धरे रहि साँत ॥२॥
जानै मार्ग निवृत्ति कौ, तीजे आश्रम माँहि।
पालै धरम निवृत्ति सौं, संन्यासी ते कहाँहि ॥३॥[१]
जीवन रच्छा सुगम ह्वै, जो रच्छै तू बिंदु।
बिंदु पतन सौं बूड़ई, गहन मृत्यु कै सिंधु ॥४॥
बीर्ज रुकइ तौ मन रुकहि प्रानहु थिर ह्वै जाय।
बाढ़इ बल हनुमान सम, अगम सुगम दरसाय ॥५॥[२]
जगत-जलधि ब्रह्मचर्ज कौ, जानै ध्रुवहि समान।
ज्ञान-दीप महँ वाहि कौ, मिलो तैल इस्थान ॥६॥
मैथुन अष्ट प्रकार को, ता महँ रति न सुहाय।
ब्रह्मचर्ज सौं जीव यहि, ब्रह्म सदृस ह्वै जाय ॥७॥[३]
ब्रह्मचर्ज उपदेस करि, बिधिहू ईस बताय।
सास्त्र लिखित ब्यौहार सौं, निज कल्यान बनाय ॥८॥
नाम जपै, भज राम कौ, प्रातः नित्य न्हाई।
तजै कुसंगति गरल सम, नित सतसंग कराइ ॥९॥[४]

---

१. ब्रह्मचर्य आश्रम में संयम की शिक्षा ग्रहण करे, गृहस्थ में उसका पालन करते हुए धर्म-आचरण करे, वानप्रस्थ में निवृत्ति मार्ग की शिक्षा ग्रहण करे और संन्यास में उसका ब्रह्मचर्य द्वारा ही पालन करे।

२. "पातंजल योग-दर्शन" के "साधनपाद" का ३८वां सूत्र है—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है यानी साधक के मन, बुद्धि और शरीर एवं इन्द्रियों में अपूर्व शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। साधारण मनुष्य उसकी किसी काम में बराबरी नहीं कर सकता। भक्त श्रेष्ठ हनुमान, वीरवर भीष्म, सनकादि मुनीश्वर, महामुनि शुकदेव, तथा बालखिल्यादि ऋषि अपने ब्रह्मचर्य के लिये प्रसिद्ध हैं।

३. आठ प्रकार के मैथुन ये हैं—(१) स्मरण, (२) श्रवण, (३) कीर्तन, (४) प्रेक्षण, (५) केलि, (६) शृंगार, (७) गुह्य भाषण और (८) स्पर्श।

४. उसी ब्रह्म से "विधि" भी हुई। शास्त्रोक्त आचरण करने से ब्रह्म की प्राप्ति सुगम होती है। इनमें सत्संग भी है। सत्संग की बड़ी महिमा है और उसका बहुत विस्तार है। गोस्वामी जी ने 'मानस' में लिखा है—

बिनु न्हाए भोजन करइ, सो बिष्ठा ही खाइ।
उदर भरै हरि भजन बिनु रुधिर-पान सम भाइ ॥१०॥
हरा शाक खाकै रहै रहवै निज के वास।
जाके सिर ऋण न कढ़ै सुख है वाके पास ॥११॥
राखइ शुद्ध शरीर कौ मन पावन ह्वै जाय।
होइ अपावन देह तौ, मन निरमल न कहाय ॥१२॥
भोजन जीवन हेतु है, स्वाद-बुद्धि करि त्याग।
मन-तन कौ बल लै बढ़ा, करि नित ही जप जाग ॥१३॥
बेद विहित आचार सौं, सुगम ईस को ध्यान।
साधन करि लै मोच्छ पद, बेदहि जान प्रमान ॥१४॥
जानइ साधन जदि कठिन, तौ सेवइ सतसंग।
तासौं पाइ बिबेक पुनि, बिचरइ जगत असंग ॥१५॥
ज्ञान-लाभ ह्वै सहज ही, प्रथम बिराग दृढ़ाय।
जानहि आत्म स्वरूप को, जनम न व्यर्थ गंवाय ॥१६॥

तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत्संग ॥

श्रीमद्भागवत् में शौनकादि ऋषि कहते हैं—

तुला लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥ (१।१८।१३)

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने स्वयं श्री उद्धवजी से कहा है—

न रोधयति मां योगो न सांख्यंधर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसँगपहो हि माम् ॥ श्रीमद्भागवत् (११।१२।१-२)

"हे उद्धव ! सारी सांसारिक आसक्तियों को नाश करने वाले सत्संग के द्वारा जिस प्रकार मैं पूरी तरह वश में होता हूँ, उस प्रकार योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, योगादि, वैदिक धर्म, कुएँ-बावड़ी बनाने और बाग लगाने, दान-दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तीर्थयात्रा, नियम, यम आदि किसी भी साधन से नहीं होता।"

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र से भी सत्संग की अनादिता और अलौकिक महत्ता का पता चलता है।

इन्द्रिय, विषय आदि ब्रह्मजन्य

इन्द्रिय सातहुँ अरु विषय, तिनके पुनि इस्थान ।
सात बृत्तियाँ, होमहूँ सबु, वाहि ब्रह्म सौं जान ।।१।।[1]

१. यह मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुंडक के प्रथम खण्ड के ८वें मन्त्र का भावानुवाद है । मन्त्र यह है:—

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ।।

अर्थात्—उस पुरुष से ही सात प्राण (मस्तकस्थ सात इन्द्रियाँ—दो नेत्र, दो श्रवण, दो घ्राण और एक रसना) उत्पन्न हुए हैं । और उनकी वृत्तियाँ अर्थात् विषय ग्रहण करने वाली शक्तियाँ (अग्नि की काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, स्फुलिंगिनी, विश्वरुची-सात लपटों की ओर संकेत है, क्योंकि यहाँ यज्ञ का रूपक बाँध कर विषय, विषय-वृत्ति, विषय-ज्ञान, आदि समझाये गए हैं) उन इन्द्रियों के विषय रूप सात समिधाएँ, सात प्रकार का हवन अर्थात् बाह्य विषय रूप समिधाओं की इन्द्रिय रूप अग्नियों में निक्षेप रूप क्रिया और इन्द्रियों के वासस्थान रूप सात लोक (गोलक) जिनमें रह कर यह प्राण अपना-अपना कार्य करते हैं और जो सुषुप्ति अवस्था में गुहा-शरीर अथवा हृदय में शयन करते हैं, वे गुहाशय और विधाता द्वारा प्रत्येक प्राणी में निहित सात-सात पदार्थ इस पुरुष से ही उत्पन्न हुए हैं ।

यहाँ इन्द्रियाँ सात बतलाई गई हैं । और इन सात में भी शांकरभाष्य सहित जो अनुवाद गीता प्रेस से प्रकाशित हुआ है उसमें 'मन' का उल्लेख नहीं है । अस्तु, 'ब्रह्मसूत्र' में इस विषय पर विचार किया गया है और मन सहित ११ इन्द्रियाँ मानी गई हैं ।

वहाँ दूसरे अध्याय के चौथे पाद के ५वें और ६ठे सूत्रमें बताते हैं:—

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ।।२।४।५।।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।।२।४।६।।

अर्थात्—इन्द्रियाँ सात हैं, क्योंकि सात हो ज्ञात होती हैं । तथा "सप्त प्राणाः" कहकर श्रुति ने 'सप्त' पद का प्राणों (इन्द्रियों) के विशेषण रूप में प्रयोग किया है । किन्तु, हाथ आदि (हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा) अन्य चार इन्द्रियों का वर्णन भी पूर्वोक्त सात इन्द्रियों के साथ दूसरी श्रुतियों में स्पष्ट आता है । (प्रश्नोपनिषद ४।८) अतः जहाँ किसी अन्य उद्देश्य से केवल सातों का वर्णन हो, वहाँ इन चारों को भी अधिक समझ लेना चाहिए । गीता में भी मन सहित

सप्त सुषुप्ती महँ रहइँ, हर प्रानी उर मध्य ।
भये सकल वा पुरुष सौं, आतम रूप अवध्य ॥२॥
पाँचहु ज्ञानेन्द्रियनि सौं, होय विषय को ज्ञान ।
मनुज देह मँह होय पुनि भगवतहू को ध्यान ॥३॥
चिन्तन, सेवन विषय कौ करहिं सदा सब जीव ।
दुर्लभ तन यहि पाइ कै, चतुर अराधै पीव ॥४॥
विषय-मद्य पी नर गिरे जनम-मरन के कूप ।[1]
साँचो मन चिन्तन करइ, होवइ ब्रह्म स्वरूप ॥५॥

ग्यारह इन्द्रियाँ बताई गई हैं। (गीता १३।५) वृहदारण्यक श्रुति में भी दस इन्द्रियाँ और एक मन—इन ग्यारह का वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया गया है। (३।९।४) अतः मन सहित इन्द्रियाँ ग्यारह ही माननी चाहिएँ।

१. "श्वेताश्वतरोपनिषद" में संसार (कार्यब्रह्म) का नदी के रूप में बहुत सुन्दर वर्णन करते हुए इन्द्रियों के विषयों को पाँच भँवर बताया है। इन्हीं में फँसकर जीव जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जाता है। देखिए:—

पंच स्रोतोऽम्बुं पंचयोन्युग्रवक्रां पंचप्राणोर्मिं पंच बुद्ध्यादिमूलाम् ।
पंचावर्तां पंचदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदाम् पंचपर्वामधीमः ॥ (१।५)

व्याख्या—वे ब्रह्मज्ञ ऋषि कहते हैं, हम एक ऐसी नदी को देख रहे हैं जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच स्रोत हैं। यह इन्द्रियाँ पंच सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न हुई हैं, इसलिए इस नदी के पाँच उद्गम स्थान माने गये हैं। इस नदी का प्रवाह बड़ा भयंकर है। इसमें गिर जाने से बार-बार जन्म-मृत्यु रूप क्लेश उठाना पड़ता है। जगत के जीवों में जो कुछ भा चेष्टा होती है, वह प्राणों से ही होती है। अतः प्राणों को इस भव-सरिता की तरंग माला कहा गया। मन ही इस नदी का मूल है, क्योंकि पाँच प्रकार के ज्ञानों का आदि कारण मन ही है। जितने भी ज्ञान हैं, सब मन की ही तो वृत्तियाँ हैं। जब तक मन है तभी तक संसार है। इन्द्रियों के पाँच विषय ही इस नदी में भँवर हैं जिनमें फँसकर जीव जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ जाता है। गर्भ, जन्म, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु में होने वाले पाँच दुःख ही इस नदी के प्रवाह में वेगरूप हैं। अब नदी के पाँच पर्व या विभाग बताते हैं—अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहंकार), राग (प्रिय बुद्धि), द्वेष (अप्रिय बुद्धि), और अभिनिवेश (मृत्युभय) ये पाँच प्रकार के क्लेश ही इसके विभाग हैं। इनमें सारा संसार बँटा हुआ है। और अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ ही इस नदी के पचास भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों को लेकर ही संसार में भेद की प्रतीति होती है।

सरिता यहि संसार की, विषय मगर अति क्रूर।
साजै खड्ग बिराग की, पार करै सो सूर ॥६॥[1]
फाँसी लागी विषय की, परमधाम किमि पाय।
बेद-सास्त्र पंडित भयो, बिनु बिराग भरमाय ॥७॥
दो पंखनि के संग सौं, पंछी गगन उड़ाय।
डैने बोध-बिराग कै, चौथी मंजिल जाय ॥८॥[2]
मृग, मतंग, अरु माछली, भ्रमर, पतंग नसायँ।[3]
एक विषय सौं रे! मनुज, तो कूँ पाँच लुभायँ ॥६॥

---

१. "विवेक चूड़ामणि" में भगवान् शंकराचार्य ने बताया है—

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिनाहतः।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः॥

अर्थात्—"जिसने वैराग्यरूपी खड्ग से विश्वैषणारूपी ग्राह को मार दिया है वही निर्विघ्न संसार समुद्र के उस पार जा सकता है।"

२. चौथी मंजिल—अर्थात् तुरीय अवस्था।

"विवेक चूड़ामणि" में भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्
पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम्।
विमुक्ति सौधाग्रतलाधिरोहणं
ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति ॥३७५॥

अर्थात्—"हे, विद्वान्! वैराग्य और बोध, इन दोनों को पक्षी के दोनों पंखों के समान मोक्षकामी पुरुष के पंख समझो। इन दोनों में से किसी भी एक के बिना केवल एक ही पंख के द्वारा कोई मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नहीं चढ़ सकता। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए वैराग्य-बोध दोनों की ही आवश्यकता है।

३. भगवान् शंकराचार्य "विवेक कूड़ामणि" में कहते हैं—

शब्दादिभिः पंचभिरेव पंच
पंचत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः।
कुरंगमातंगपतंग मीन भृंगा
नरः पंचभिरंचितः किम् ॥

अर्थात्—अपने-अपने स्वभाव के अनुसार शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से बँधे हुए हरिण, हाथी, पतंग, मछली और भौंरे मृत्यु को प्राप्त

गज भय सौं गिर कूप महँ, कर लीनी तरु डार ।
मधु-बस भूल्यो सर्प अरु, सीख तजो अबिचार ।।१०।।[1]
विषय तजै, कल्यान को मारग लै अपनाय ।
लख चौरासी योनि महँ, कब लौं रहि भटकाय ? ।।११।।

पर्वत, नदी आदि भी ब्रह्मजनित

आध्यात्मिक जग वाहि सौं उपजा, कियो बखान ।
बाह्य जगत उत्पत्ति भी वाहि ब्रह्म सौं जान ।।१।।
सिंधु सबै गिरि अरु नदी, औषधि दियो बताय ।
रस उपजै षट् जाहि सौं देही सूक्ष्म टिकाय ।।२।।[2]

होते हैं, फिर इन पाँचों (शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) से बँधा हुआ मनुष्य कैसे बच सकता है ?

१. एक व्यक्ति कहीं जंगल में भटक गया । वहाँ हाथी ने उसका पीछा किया और वह भयवश भागते-भागते एक कुएँ में गिरा । कुएँ में एक पेड़ था, उसकी डाल में वह फँस गया । कुएँ में नीचे सर्प-बिच्छू आदि थे और ऊपर हाथी था । कुएँ के ठीक ऊपर लगे एक वृक्ष में मधुमक्खियों का छत्ता था । इसी समय उसमें से एक-एक बूँद शहद उस व्यक्ति के मुँह में आ टपकने लगा । बस वह सब दुःख भूल गया । उधर से तब विद्याधर देव विमान से जा रहे थे । उनकी पत्नी को दया आई । और विमान वहाँ उतारा गया । उस व्यक्ति से उन्होंने कहा—"चलो विमान में तुम्हें स्वर्ग ले चलें ।" पर वह मधु के स्वाद में ही लुभाया रहा । कुएँ की डाल को, जिसे पकड़कर वह लटका था, सफेद और काले, दो चूहे काट रहे थे । अन्त में वह डाल कट गई और व्यक्ति कुएँ में गिर पड़ा । यहाँ वह मनुष्य जीव है, हाथी शुभाशुभ कर्म हैं, कूप माँ का गर्भ है, डाली योनियाँ हैं, मधु विषय हैं, विद्याधर देव ही परोपकारी महात्मा हैं और चूहे रात-दिन हैं । इस प्रकार विषय-वश हो जीव जन्म गवाँ देता है ।

२. अब तक आध्यात्मिक वस्तुओं की उत्पत्ति और स्थिति परमेश्वर से बतला कर मुण्डकोपनिषद के द्वितीय मुण्डक, प्रथम खण्ड के इस नवें मन्त्र में बाह्य जगत की उत्पत्ति भी उसी ब्रह्म से बताते हुए प्रकरण का उपसंहार किया है—

भई सृष्टि, वा ईस कौं कारन द्वय करि जान।
घट में माटी निमित पुनि कुलालहि उपादान ।।३।।
सृष्टि उपजै बीति हैं, विधि के बरस पचास।[1]
उपजावहि प्रभु जीव हित जाहि फलनि की ग्रास ।।४।।[2]
होवइ अन्तर महँ प्रथम घट को पूरो ज्ञान।
पुनि साधन सब लाइ करि कुम्भकार निरमान ।।५।।
तिमि करनी को जीव की, अन्तर माँहि पहचान।
देवइ फल जगती रचा, न्यायसील भगवान ।।६।।
राग-बैर सौं रहित प्रभु, करुनामय सुख रूप।
सुभ करनी करि पाइ लै, पाप करइ अघरूप ।।७।।

वेद, और ईश्वर की सर्वज्ञता

करम, उपासन, बेद अरु फल तिनको संसार।
कार्ज ब्रह्म को पुनि जगत, माया सौं निस्तार ।।१।।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्व रूपाः।
अतश्च सर्वा औषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ।।

अर्थात्—इस पुरुष से ही क्षारादि सात समुद्र और इसी से हिमालय आदि समस्त पर्वत उत्पन्न हुए हैं। गंगा आदि अनेक रूपों वाली नदियाँ भी इसी से प्रवाहित होती हैं। इसी पुरुष से व्रीहि, यव आदि सम्पूर्ण औषधियाँ तथा मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त, छः रस उत्पन्न हुए। इन रसों से ही पाँच स्थूल भूतों द्वारा परवेष्ठित हुआ अन्तरात्मा—लिंग देह यानी सूक्ष्म शरीर, स्थित रहता है। (यह शरीर और आत्मा के मध्य में आत्मा के समान ही स्थित है, इसलिये अन्तरात्मा कहलाता है।)

१. इस सृष्टि को बने ब्रह्मा के ५० वर्ष हो चुके हैं। ब्रह्मा का एक दिन चारों युगों के हजार बार बीतने पर होता है। चारों युगों में सतयुग १७ लाख २८ हजार वर्ष, द्वापर १२ लाख ९६ हजार वर्ष, त्रेता ८ लाख ६४ हजार वर्ष और कलियुग ४ लाख ३२ हजार वर्ष का होता है। ब्रह्मा की आयु १०० वर्ष है, जिसके पूर्ण होने पर प्रलय होती है।

२. जीवों को उनके कर्मों का फल देने के लिए ही ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। कर्म से सृष्टि और सृष्टि से कर्म, यह अनादि काल से चला आता है।

करम-उपासन-ज्ञान कौं बेदहि करइ प्रकास।
औरु बेद कौं श्रुति कहइ, परम ब्रह्म की स्वांस ॥२॥
हृदय मध्य जो ज्ञान ह्वै, सो बानी पै आय।
बेद ईस कै हृदय कौ ज्ञान अगम्य कहाय ॥३॥
परम ब्रह्म अरु बेद कौं, श्रुतिमत जानि अनादि।
प्रथम ज्ञान उर महँ भयो, बिधि कौ, ऋषि, कबि आदि ॥४॥
अरथ होय अज्ञात जो, ताहि बेद बतलाय।
धरम-ब्रह्म सो जानिये, बेदहि ज्ञान कराय ॥५॥
बेद कही जो किछु क्रिया, सो सबु धरम कहाय।
सबु सिद्धान्त बिचार कै, जैमिनि अस समुझाय ॥६॥
धरम करै निष्काम ह्वै, पाप छांड़ि उपराम।
तत्पर भगवत ओर ह्वै, पाइ वाहि कौ धाम ॥७॥
इमि फल धरम बताइ कै, ब्रह्महि बेद बताय।
ज्ञान होय, अज्ञान कौ नास, मोच्छ पद पाय ॥८॥
मनन न करि बेदान्त कौ, श्रवन न करि अरु ध्यान।
सो किमि आतम जानि है, जनि सो ब्रह्म पिछान ॥९॥
नारायण की वांगमय, मूरत बेद कहाय।
नित्य पाठ, मनु सोच कै, परम धरम बतलाय ॥१०॥
कंठ करै, अरु अरथ कौ, साधक करइ बिचार।
मनन करै, मंत्रन्ह जपै, शिष्यनि करै प्रचार ॥११॥
पुरुष रूप यहि बेद कौ जान पाइ लै ज्ञान।
बिहित करम निष्काम करि, तज माया मद मान ॥१२॥[1]

---

१. विहित अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म ही करने चाहिएँ। आनन्दमय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र शास्त्रोक्त कर्म न करने वालों की निन्दा करते हैं :—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ (गीता १६।२३)

अर्थात्—जो व्यक्ति शास्त्र की विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से बर्तता है, वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है और न परम गति को तथा न सुख को ही प्राप्त होता है।

आगे कहा है—

शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि। (१६।२४)

लाल बस्त्र पै होय जिमि, पीत बिंदु सर्बत्र।
तिमि ब्यापक माया कही, जीव यत्र अरु तत्र ।।१३।।
सुद्ध वस्त्र कौं ढकि लियो लाल रंग जिमि भाइ।
तिमि माया ढकि ब्रह्म कौ, चेतन-सम दरसाइ ।।१४।।
माया ह्वै सर्वज्य अरु, अलपज्यहु अज्ञान।[1]
ब्रह्म ईस माया सहित, जीव अविद्यावान ।।१५।।
बिबिध बस्तु कै ज्ञान सौं जीव होय अल्पज्य।
एकहि ज्ञान अनन्त सौं, ईस बन्यो सर्वज्य ।।१६।।
ईस बनावै जगत कौ, जीव भोग संसार।
करम सुभासुम जिव करै, ईश्वर फल बिस्तार ।।१७।।
ईसर जानइ जगत कौ, कल्पित मिथ्या रूप।
जीव सत्य करि जानि है, भूल्यो आतम स्वरूप ।।१८।।
आतम रूप कै ज्ञान सौं, ब्रह्म ज्ञान ह्वै जाय।
ईस, जीव, परब्रह्म की, सत्ता एक लखाय ।।१९।।
तप वाही सर्वज्य कौ, ज्ञान रूप करि जान।
ध्यान करै सर्वज्य कौ, होवइ ताहि समान ।।२०।।
बेद, करम तप औरु फल यौं सबु ब्रह्महि जान।
आतम रूप चेतन अमर दिब्य नित्य सुध ज्ञान ।।२१।।

ब्रह्म और जगत का अभेद

ब्रह्म रूप जो जानई जगत, करम अरु ज्ञान।
याहि देह महँ जोति सो, माया जनित जहान ।।१ ।।[2]

अर्थात्—"तू शास्त्र विधि से नियत किये हुए कर्म को करने के लिए ही योग्य है।"

१. 'अज्ञान' यहाँ अविद्या के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। माया-अविद्या पर्यायवाची होते हुए भी माया सर्वज्ञ और अविद्या अल्पज्ञ मानी गई है।

२. यहाँ दसवें मन्त्र का भावानुवाद दिया गया है। मन्त्र है—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रंथि—
विकीरतीह सोम्य ।। (२।१।१०)

हृदय गुहा महँ निहित वो, सुधा रूप परब्रह्म ।
जानइ तौ कल्यान ह्वै, मिटिही अविद्या भ्रम ।।२।।
कर्म, ज्ञान, फल वाहि कौ, यहि सबु जग तू जान ।
कार्ज ब्रह्म कौ याहि तें, अमृत ब्रह्म समान ।।३।।
सकल ओर सब दिसिनि महँ, ब्रह्म हु ब्रह्म लखाय ।
जानइ जदि ज्ञातव्य कछु सेष नहीं रहि जाय ।।४।।
जगत ब्रह्म कौ रूप पुनि, आतम ब्रह्म स्वरूप ।
ब्रह्म आतमा अरु जगत, यौं ह्वै एकहि रूप ।।५।।

व्याख्या—पुरुष ही यह विश्व, सारा जगत है, पुरुष से भिन्न "विश्व" कोई वस्तु नहीं है। "किसको जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है?" इस प्रश्न का यही उत्तर यहाँ दिया गया है, कि सबके कारण स्वरूप इस परमात्मा को जान लेने पर ही यह ज्ञान हो जाता है कि यह विश्व पुरुष ही है, उससे भिन्न नहीं है। अग्निहोत्रादि रूप कर्म, तप यानी ज्ञान, उसका फल तथा इसी प्रकार का यह और सब भी विश्व कहलाता है। यह सब ब्रह्म का ही कार्य है। इसलिये यह सब अमृत ब्रह्म है और मैं भी परामृत ब्रह्म हूँ। (जीव और आत्मा का अभेद) ऐसा जो पुरुष सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित उस ब्रह्म को जानता है, हे प्रियदर्शन ! वह अपने ऐसे विज्ञान से अविद्या की गाँठ को इस लोक में जीवित रहते ही काट डालता है, मर कर नहीं।

१. गीता के ७वें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं:—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।७।१९

अर्थात्—"बहुत जन्मों के अन्त के जन्म में तत्त्व ज्ञान को प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ **वासुदेव ही है**, इस प्रकार मेरे को भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।" यहाँ आनन्दघन श्रीकृष्ण भगवान्, "वासुदेव (वासु-जिसमें सारे भूत प्राणी निवास करें। देव-ब्रह्म, स्वयंप्रकाश) के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, यही बता रहे हैं। और इससे पूर्व जगत में अपनी व्यापकता भी भगवान् ने बताई है:—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणि गणाइव ।।७।७

अर्थात् हे धनंजय ! मेरे सिवाय किंचित मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत सूत्र में मणियों के सदृश मेरे में गुँथा हुआ है।"

मरुथल महँ जल भासई, जद्यपि भूमिहि सत्य ।
तिमि सबु लोकहु ब्रह्ममय, श्रोरु कहै तौ असत ।।६।।
लखहि अविद्या सौं जगत ब्रह्म करै जु बिचार ।
जल-ही जल जिमि सत्य है, हिम तौ एक बिकार ।।७।।
सीत पवन सौं हिम बन्यो, आगी सौं पुनि नीर ।
ज्ञान अगनि, माया पवन, ब्रह्म नीर कहि धीर ।।८।।
निर्मल आतम देखियत जगत लखहि परब्रह्म ।
सो ज्ञानी या जन्म महँ तजई अबिद्या भ्रम ।।९।।

उपसंहार

ब्रह्म व्याप्त सब ठौर है, ज्ञान बुद्धि सौं होय ।
बिद्युत जद्यपि तार महँ, ज्योतित लट्टू होय ।।१।।
बुद्धि संग सौं बनि गयो, ब्रह्म हि जीव समान ।
ज्ञान-चक्षु जो देखई, सुद्ध ब्रह्म पहिचान ।।२।।[1]
तन कौ पहिले ज्ञान ह्वै, पाछे सबु ब्यौहार ।
जानइ चेतन, तौ करइ याहि जनम जग पार ।।३।।
लवन एक रस जानिये, सदा-सदा सब ओर ।[2]
परम ज्योति तिमि सर्वदा, रहवइ आतम-विभोर ।।४।।

---

१. चर्म-चक्षुओं से नहीं, वरन् दिव्य-चक्षुओं से ही ब्रह्म का दर्शन होगा । "दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्" (गीता ११।८)

अर्थात्—"मैं तुझे दिव्य चक्षु देता हूँ उससे तू मेरे प्रभाव को और योग-शक्ति को देख । ज्ञान-चक्षुओं से भगवान् का वह स्वरूप दिखता है जो अर्जुन ने देखा—

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। (११।१३)

अर्थात्—"पाण्डु पुत्र अर्जुन ने उस काल में अनेक प्रकार से विभक्त हुए सम्पूर्ण जगत को उस देवों के देव श्रीकृष्ण भगवान् के शरीर में एक जगह स्थित देखा ।" इससे भी "ब्रह्म ही जगत है" की पुष्टि होती है ।

२. "छान्दोग्योपनिषद्" के छठे अध्याय के त्रयोदश खण्ड में आरुणि ऋषि ने श्वेतकेतु को नमक का दृष्टान्त दिया है । आरुणि के कहने पर श्वेतकेतु ने

होवइ वरषा गगन सौं तपै दिवाकर नित्य।
गगन असंगहि रहि सदा, तिमि रहि शिव, सत नित्य।।५।।[१]
देहि माँहि वृष्टा बसै, करमन करइ न भोग।
सूरज-चंदा महँ जरै वाहि ब्रह्म की जोत।।६।।[२]

नमक का एक डला जल में डाल दिया और दूसरे दिन प्रातः वह जल लेकर आरुणि के सम्मुख उपस्थित हुआ। तब आरुणि ने उससे कहा—"वत्स! कल रात तुमने जो नमक इसमें डाला था, उसे ढूँढ कर लाओ!" किन्तु उसने ढूँढ़ने पर जल में नमक नहीं पाया। आरुणि ने कहा—"वह नमक इसमें विलीन हो गया है, तू उसे नेत्र से नहीं देख सकता, यदि उसे जानना चाहता है तो इस जल को ऊपर से आचमन कर।" उसके आचमन करने पर आरुणि ने पूछा—"कैसा है?" श्वेतकेतु ने कहा—"नमकीन!" इसी प्रकार नीचे से आचमन कराया और श्वेतकेतु ने वहाँ भी नमकीन पाया। श्वेतकेतु ने आरुणि की आज्ञा पा जल फेंक दिया, तब कहा—"उस जल में नमक सदा ही विद्यमान था।" तब उससे पिता ने कहा—"सोम्य! वह सत्य भी निश्चय यहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है। वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु! वही तू है।"

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी ऐसा आया है:—

"सैन्धवघनवद् अनन्तरमबाह्यमेकरसं ब्रह्मेति
विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपादयिषितोऽर्थः।।

(बृहदारण्यक १।४।१०)

अर्थात्—"ब्रह्म नमक के डले के समान अन्तर रहित (व्यवधान शून्य, अविच्छिन्न) है, वह बाह्य भेद से रहित है, अर्थात् बाहर से कुछ, भीतर से कुछ ऐसा नहीं है। वह सर्वदा एक रस है। सम्पूर्ण उपनिषद् में इसी विज्ञान का प्रतिपादन करना अभीष्ट है।"

१. भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गीता में कह रहे हैं:—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। (१३।३२)

अर्थात्—"हे अर्जुन! जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता है।

२. गीता के १५ अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कह रहे हैं:—

अन्तर्मुख ह्वै जानि जो, चेतन ब्रह्म प्रकास ।
तजइ अविद्या ज्ञान लै, गल न पड़इ जम फांस ।।७।।
ब्रह्म अवर है कार्ज सौं, पर ही कारन रूप ।
भेद परावर सौं मिटहि, साधक ज्ञान स्वरूप ।।८।।
ज्ञानी पावै ज्ञान तौ तन न तजइ तत्काल ।
जीवित रहि फल चाखि है, जस बिधि लिख्यो भाल ।।९।।
हृदय प्रकासै ब्रह्म की जोति अनन्त प्रकास ।
जान अविद्या वासना काम सबहि कौ नास ।।१०।।
संचित औरु अगामि इमि करम छीन ह्वै जायँ ।
पुनि प्रारब्ध न छीन ह्वैं, जो निज फल प्रकटायँ ।।११।।
इमि होवै जब ज्ञान तौ, सबहि ब्रह्म दरसाय ।
प्रियदरसन, सौनक ! सबै संसय भ्रम मिटि जाय ।।१२।।
साधक होवै मोच्छ कौ सदा करइ सतसंग ।
ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा, बिचरइ होइ असंग ।।१३।।
करम करइ निष्काम अरु, होइ राम कौ ध्यान ।
अन्तर निरमल होय पुनि साधै निज कल्यान ।।१४।।
बिना भक्ति होवै नहीं, ज्ञान, मोच्छ, कहि बेद ।
तासौं पहिले सुभ करम, करि खोवइ मन खेद ।।१५।।
अति दुर्लभ नर तन मिल्यो, लख चौरासी बीच ।
चिन्तन करि लै ब्रह्म कौ, सिर पै हर छन मीच ।।१६।।

यदादित्य गतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।१५।१२

अर्थात्—"हे अर्जुन ! जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान ।"

५. मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म साक्षात्कार का फल बताते हुए कहा है:—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते -चास्य कर्माणि तस्मिनदृष्टे परावरे ।२।२।८

अर्थात्—उस परावर कारण रूप कार्य ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने पर, इस जीव की बुद्धि में स्थित अविद्या वासना-भय, काम रूपी ग्रन्थि नाश को प्राप्त होती है । और ऐसे संशय से निवृत्त हुए पुरुष के पूर्व जन्मान्तर में किए

सोरठा—निराकार भगवान दसरथ सुत भे प्रेम बस।
सोइ करहिं कल्यान जासु कृपा सतसइ रची॥
बचन सुनैं सुभ देब, सुभ दरसन नैननि करहिं।
करहिं आयु कौ सेब, देब हितहि करि इस्तुती॥
इन्द्र करहि कल्यान परम धनी यशवान अरु।
पूसा ह्वै हितवान, गुरु देवनि कैं सुभ करैं॥
रच्छै चक्र समान, गरुड़ अरिष्टनि नासि कैं।
होइ परम कल्यान, त्रिबिध ताप अब साँत ह्वै॥

ओम् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हुए वे कर्म जो फलोन्मुख नहीं हुए और ज्ञानोत्पत्ति के साथ-साथ होने वाले कर्म नष्ट हो जाते हैं। किन्तु, इस जन्म को आरम्भ करने वाले कर्म (प्रारब्ध) नष्ट नहीं होते, क्योंकि उनका फल देना आरम्भ हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि कारण रूप से पर और कार्य रूप से अवर, ऐसे उस परावर का अपने से अभेद जान लेने पर संसार के कारण का उच्छेद हो जाता है और अन्त में यह पुरुष मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवत् में भी कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

(११।२।२१)

अर्थात्—"आत्मा में ही ईश्वर के दर्शन होने पर हृदय की ग्रन्थि कट जाती है, सारे संशय विलीन हो जाते हैं और सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं।"

यही "कठोपनिषद्" में कहा गया है—

यस्य सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥२।३।१४

अर्थात्—"जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ जो कि हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं, उस समय वह मरण धर्मा अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है।

इति